भारतीय ग्रन्थमाला; संख्या—१

हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ

—:०:—

लेखक

भारतीय शासन, भारतीय जागृति, देशी राज्य शासन
और विश्व वेदना, आदि के रचयिता

भगवानदास केला

प्रकाशक

व्यवस्थापक, भारतीय ग्रन्थमाला; बृन्दावन

मुद्रक

गया प्रसाद तिवारी, बी० काम०, नारायण प्रेस, प्रयाग

चौथा संस्करण]   सन् १९४३ ई०   [मूल्य, चौदह आने

सुहृद्वर

श्री शंकरसहाय जी सकसेना

एम० ए०, एम० काम०,

अर्थशास्त्र-शिक्षक, बरेली कालिज,

को सप्रेम समर्पित

विषय-सूची

निवेदन

एक अंगरेज कवि ने कहा है कि मैं सोया तो मुझे मालूम हुआ कि जीवन एक सौन्दर्य है; पर, मैं जागा तो मालूम हुआ कि जीवन एक कर्त्तव्य है। वास्तव में जाग्रत व्यक्तियों, संस्थाओं तथा राष्ट्रों के लिए जीवन कर्त्तव्य-स्वरूप ही होता है, उनके सामने तरह-तरह की समस्याएँ होती है, उन पर वे गम्भीरता और दृढ़ता-पूर्वक विचार करते हैं, और उन्हें हल करने के उपाय निकालते हैं। जाग्रत भारत-सन्तान को राष्ट्रीय समस्याओं की उपेक्षा करना शोभा नहीं दे सकता। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह इन समस्याओं को हल करते हुए राष्ट्रीय प्रगति में सम्यक् भाग ले। इसी लिए इस पुस्तक में प्रस्तुत समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है।

इस पुस्तक के प्रथम दो संस्करण 'भारतीय राष्ट्र-निर्माण' नाम से छपे थे। तीसरे संस्करण में नाम बदला गया और तदनुसार विषय में भी यथेष्ट परिवर्तन किया गया। दक्षिण-भारतहिन्दी-प्रचार-सभा, (मदरास) तथा अन्य संस्थाओं ने इस का अच्छा स्वागत किया। इसी लिए काग़ज़ की बहुत कठिनाई होते हुए भी इसका वर्त्तमान संशोधित संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। परिशिष्ट में दिया हुआ "हिन्दुस्तान किसका ?" लेख नया बढ़ाया हुआ है, यह 'शुभचिन्तक' के राष्ट्रीय अंक में प्रकाशित हुआ था। आशा है, यह पुस्तक पाठकों को अपना कर्त्तव्य निर्धारित करने में सहायक होगी।

विनीत

पहला परिच्छेद

राष्ट्र-निर्माण

आओ, भारतीय! भारत का राष्ट्र-भवन निर्माण करें।
दुखिया जननि-जन्मभूमि का मिल-जुल कर सब त्राण करें॥
—कर्ण

प्रिय बान्धवो! आलस्य अपना वेग खोना चाहिए।
कर्तव्य-पथ में शीघ्र अब आरूढ़ होना चाहिए॥
जी-जान से बल बृद्धि का उद्योग करना चाहिए।
राष्ट्र-निर्माणार्थ अब कटिबद्ध होना चाहिए॥
—हनुमत्प्रसाद जोशी

हमें अपने देश की विविध राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करना है। इसके लिए पहले यह जान लेना आवश्यक है कि राष्ट्र ('नेशन') किसे कहते हैं, और उसका निर्माण किस प्रकार होता है।

मनुष्यों का संगठन; परिवार और वंश—राष्ट्र बनने से पूर्व, मनुष्यों को कई मंजिलें तय करनी होती हैं; उनके विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त करने से राष्ट्र-सम्बन्धी विविध बातों को समझने में सुविधा होगी। यह सर्व-विदित है कि मनुष्य अपने स्वभाव से ही समाज-प्रिय है। अकेले रहने की दशा में मनुष्य को अपना स्थान बड़ा सुनसान मालूम होता है। किससे बातें करे, कैसे अपना जी

बहलाए, ये प्रश्न उसके सामने आते हैं। अकेले, उसका मन नहीं लगता। पुनः अकेले रहने की दशा में उसे जंगली जानवरों का भी भय रहता है। इसके अतिरिक्त उसकी विविध आवश्यकताएँ हैं, उनकी पूर्ति के लिए भी उसे समाज में रहना होता है। प्राचीन काल में मनुष्य का जीवन बहुत सरल और सादा था, उसकी जरूरतें कम थी, तथापि उसे भूख-प्यास तथा सर्दी-गर्मी आदि तो लगती ही थी। उसे भोजन और पानी की आवश्यकता होती थी। पानी जहाँ-तहाँ नदियों या झरनों में मिल भी जाय, भोजन तो हर जगह मिलना कठिन था। शिकार के लिए मनुष्यों को एक-दूसरे के साथ मिलकर, मडली या टोली बना कर रहना पड़ा। पश्चात् पशु-पालन और कृषि के लिए तो आदमियों को इकट्ठे तथा स्थायी रूप से एक जगह रहने की और भी अधिक आवश्यकता हुई।

क्रमशः ज्यों-ज्यों सभ्यता की वृद्धि होती गयी, मनुष्यों की आवश्यकताएँ बढ़ती गयीं। अब तो उनके अकेले-दुकेले रहने की बात ही क्या, प्रायः किसी गाँव में भी मनुष्य की सब जरूरतें पूरी नहीं होती, उसे अन्य गाँवों ही नहीं, दूर-दूर के नगरों या कस्बों से सम्बन्ध रखना होता है। कोई मनुष्य केवल अपने ही श्रम से अपना निर्वाह नहीं कर सकता। उसे दूसरों से सहायता लेनी, और उन्हें सहायता देनी ही पड़ेगी। इस प्रकार मनुष्यों का पारस्परिक सम्बन्ध अनिवार्य है।

आरम्भ में मनुष्य का प्रेम अपने परिवार से होता है। जन्म लेने के समय से ही प्रत्येक व्यक्ति का अपनी माता से, और कुछ समय पश्चात् पिता से, सम्बन्ध हो जाता है। अच्छी तरह चलने-

फिरने योग्य होने में उसे कई वर्ष लग जाते हैं। अपने जीवन-निर्वाह की योग्यता तो मनुष्य में अपनी आयु के एक-डेढ़ दर्जन वर्ष व्यतीत करने पर आती है। इतने समय तक वह अपने माता-पिता के आश्रित रहता है। बड़ा होने पर स्त्री पुरुष का विवाह-सम्बन्ध होता है। इनको सन्तान होती है। इस प्रकार नये-नये परिवार बनते रहते हैं।

बहुधा एक परिवार दूसरे परिवार की वस्तुओं का प्रयोग करना चाहता है; इसलिए या तो उससे मित्रता करता है, या उस पर आक्रमण करता है। मित्रता के लिए उस से मेल-जोल होता है। दूसरे पर आक्रमण करने के लिए अथवा दूसरों के आक्रमण से बचने के वास्ते भी भिन्न-भिन्न परिवारों या वंशों का संगठन होता है, और एक समूह में रहने वाले मनुष्यों की संख्या बढ़ती जाती है। पास-पास रहते हुए इन समूहों के आदमियों में एक-दूसरे की सहायता करने के भाव की वृद्धि होती जाती है। बहुधा इन समूहों में ऐसे आदमी भी सम्मिलित हो जाते हैं, जो अन्य वंशों या समूहों के हों। ये भी इन से मिल जुल कर रहने लग जाते हैं और अन्ततः इनके ही हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों इन समूहों के मनुष्यों की संख्या तथा आवश्यकताएँ बढ़ती हैं, ये नये नये गाँव या नगरों को बसाते जाते हैं, और उनमें विभक्त होते जाते हैं। इस प्रकार, एक समूह के आदमी के मित्र या सम्बन्धी भिन्न-भिन्न स्थानों में रहने लगते हैं, और इसलिए भिन्न-भिन्न ग्रामों या नगरों के निवासियों का पारस्परिक सम्बन्ध होता जाता है।

जाति—एक समूह के आदमियों का परस्पर में बहुत मेल-जोल होता है। जब वे पीढ़ियों तथा सदियों तक इकट्ठे एक ही

स्थान में रहते हैं और परस्पर में उनका खान-पान, तथा विवाह-सम्बन्ध होता रहता है तो उन का रहन-सहन एक विशेष प्रकार का हो जाता है। उनके दुख-सुख, उनके स्वार्थ, उनके रीति-रिवाज, त्योहार, उत्सव, और मेले आदि एक ही हो जाते हैं। इस प्रकार, जैसा कि श्री० भारत-भक्तजी ने 'राष्ट्र-निर्माण' में लिखा है, जिस समय एक समूह के मनुष्य मिल-जुल कर एक स्थान पर रहने लगते हैं, उन सब के रहन-सहन तथा उन के जीवन में एक ऐसी विशेषता आ जाती है, जो दूसरे मनुष्य-समूहों में नहीं मिलती, तो वे अपनी एक विशेष सभ्यता खड़ी कर लेते हैं, पीढ़ियों तथा सदियों तक जातीय साहित्य और जातीय रीति-रिवाज द्वारा उस सभ्यता को बनाये रखते हैं, तथा उस की उन्नति करते रहते हैं। समान हित तथा एक आदर्श की शृङ्खला में सब बंध जाते हैं। उस समय उस मनुष्य-समूह को एक 'जाति' कहने लगते हैं। इसी प्रकार मनुष्य-मंडली विविध जातियों में बँट जाती है। एक जाति के लोगों को आपस में बांधने वाली, तथा अन्य जातियों से उनकी भिन्नता दिखलाने वाली अनेक शक्तियों में तीन मुख्य हैं:—एक देशीयता, धार्मिक एकता, और भाषा की एकता।

इस सम्बन्ध में जर्मन विद्वान ब्लंशली ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'थियरी-आफ-दि-स्टेट' में इस आशय का भाव प्रकट किया है कि किसी जाति का मूल तत्त्व उस जाति की सभ्यता तथा उसका आन्तरिक संगठन है, और उसकी दूसरी जाति से पृथक्ता प्रायः उसकी सभ्यता की उन्नति से ही होती है। अर्थात् दो जातियों की सभ्यताओं की उन्नति में जितना अधिक अन्तर होता है, उतना ही वे अधिक पृथक् पृथक् मानी जाती हैं।

विदित हो कि 'जाति' शब्द व्यापक और गौरव-युक्त अर्थ रखने वाला है, समय के परिवर्तन ने इसका अनर्थ कर डाला है; इससे बहुत संकुचित अर्थ लिया जाने लगा है। उदाहरणवत्, भारतवर्ष में आज कल ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र आदि उपजातियों को ही नहीं, इनकी अनेक छोटी-छोटी शाखाओं के लिए भी 'जाति' शब्द का प्रयोग किया जाता है; यथा गौड़ ब्राह्मण, सारस्वत ब्राह्मण, माहेश्वरी वैश्य, अग्रवाल वैश्य, बढ़ई, लुहार, आदि जाति। वास्तव में इन सब के संगठित स्वरूप को एक जाति कहना चाहिए; ये आर्य या हिन्दू जाति के अंग हैं।

राष्ट्र—स्मरण रहे कि किसी मनुष्य-समूह को केवल एक जाति होने से ही 'राष्ट्र' नहीं कह सकते। जाति और राष्ट्र में बड़ा अन्तर है। किसी जाति में बहुधा एक ही कुल या गोत्र के आदमी रहते हैं। चिरकाल के सहवास से जब इनमें एक देश और एक राज्य का भाव प्रबल हो जाता है तब ये लोग 'राष्ट्र' कहलाने योग्य हो जाते हैं। इस प्रकार राष्ट्र में शासन या राज्य का समावेश अनिवार्य है, जाति में यह बात नहीं होती। प्रत्येक जाति का राष्ट्र होना आवश्यक नहीं है। राष्ट्र के अन्तर्गत जाति का होना अनिवार्य है, और एक राष्ट्र में एक-से-अधिक जातियों का भी समावेश हो सकता है। निदान, राष्ट्र केवल ऐसे सुसंगठित जन-समूह को कहते हैं, जो भूमि के किसी निश्चित भाग पर, एक शासन में रहते हुए एकता-पूर्वक अपने समस्त अंग-प्रत्यंगों की शारिरिक, मानसिक, आर्थिक और राजनैतिक आदि विविध प्रकार की उन्नति में दत्त-चित्त हो।

भूमि राष्ट्र का स्थावर भाग है। यह राष्ट्रीय शरीर के लिए अस्थि-

पिंजर का काम देती है। इस शरीर को सजीव बनानेवाली शक्ति जनता है। जनता ही राष्ट्र का प्राण है। इससे राष्ट्र में जनता का महत्व स्पष्ट है। राष्ट्र-निर्म्माण की दृष्टि से जनता के सम्बन्ध में दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य होती हैं:—संख्या और सामर्थ्य। बहुत छोटे-छोटे जन-समूहों से राष्ट्र नहीं बनता; और असमर्थ, अयोग्य या असंगठित मनुष्यों से भी काम नहीं चलता, चाहे उनकी संख्या कितनी ही विशाल क्यों न हो। भारतवर्षके सम्बन्ध में इस विषय का विचार आगे किया जायगा।

मिल आदि विविध लेखकों और राजनीतिज्ञों ने राष्ट्र की व्याख्या में विस्तार-पूर्वक लिखा है। उसका संक्षेप में आशय यह है कि मानव समाज के किसी अङ्ग को राष्ट्र उस दशा में कहा जाता है, जब उसके व्यक्ति परस्पर में ऐसी सहानुभूति से मिले हुए हों, जो उनमें और अन्य आदमियों में न हो; वे परस्पर में इतने सहयोग का भाव रखते हों, जितना वे दूसरों से न रखते हों; वे एक ही शासन में रहने के इच्छुक हों, और, उनकी यह चाह हो कि वह शासन उनका हो, अथवा केवल उनमें से ही कुछ लोगों का हो, दूसरों का नहीं। राष्ट्रीयता की यह भावना अनेक कारणों से उत्पन्न हो सकती है। कभी-कभी इस का कारण यह होता है कि वे आदमी एक ही जाति या नस्ल के होते हैं। भाषा और धर्म की एकता से इसमें बहुत सहायता मिलती है। भौगोलिक एकता भी इसका एक मुख्य कारण होता है। परन्तु सब से प्रबल कारण राजनैतिक परम्परा की समानता होती है। राष्ट्रीय इतिहास, समान सम्मिलित गौरव और अपमान, समान सुख और दुख की स्मृतियाँ, और समान भविष्य की आशाएँ राष्ट्र-निर्माण की महत्व-पूर्ण सामग्री होती है।

राष्ट्र कहने से राज्य के उन आदमियों का बोध होता है, जिनका यह दृढ निश्चय हो कि हम समान भविष्य में सम्यक् रूप से भागीदार होंगे। हम अपने सामूहिक कार्यों पर स्वयं नियन्त्रण करेंगे, कोई दूसरी शक्ति उसमें हस्तक्षेप नहीं कर पायेगी। इन लोगों में परस्पर में ऐसी आत्मीयता का भाव होता है कि एक का कष्ट सब का कष्ट समझा जाता है, उस के दुख को निवारण करने के लिए सब जी-जान से प्रयत्न करते हैं। किसी भी भय या प्रलोभन द्वारा, एक व्यक्ति दूसरे को हानि पहुँचाने के लिए तैयार नहीं किया जा सकता।

राष्ट्र के मनुष्यों में भाषा, धर्म, जाति या संस्कृति आदि की बड़ी एकता होती है, किन्तु उन में सबसे बड़ी एकता भावों या हृदयों की एकता होती है, जिस से जब एक अंग को कुछ कष्ट हो तो सब अंग उससे सहानुभूति रखते हुए उसके कष्ट को निवारण करने का प्रयत्न करने लगें। राष्ट्र के मनुष्य भली भांति यह समझते हैं कि हम सब एक ही मातृ-भूमि की संतान हैं—परस्पर भाई-बन्धु हैं दूसरों के सुख-दुःख में हमारा भी लाभ-हानि है। श्री० इन्द्र वेदालंकार जी ने 'राष्ट्रीयता के मूल मन्त्र' में लिखा है:—"जब एक जाति एक ही राज्य के नीचे रहते-रहते पुष्ट हो जाती है, जब उसके अवयव मिल कर एक अवयवी को बनाने लगते हैं, तब वह राष्ट्र के रूप में परिणत हो जाती है। पैर में लगे हुए कांटे की कपकपी जब सिर तक पहुँचने लगे, तभी कोई जाति राष्ट्र नाम की अधिकारिणी होती है, इस से पूर्व नहीं। परिवार, वंश, जाति, और, उसमें राज्य के आने के चिर काल पीछे, राष्ट्र—यह सामाजिक उन्नति का क्रम है।"

साधारणतया हम किसी ऐसी जाति को राष्ट्र नहीं कहते जो

राजनैतिक अधिकारों से वञ्चित, और दूसरों से शासित हो। वास्तव में, जिस जाति में राष्ट्रीयता के भाव पूरी तरह विद्यमान हों, उसे कोई पराधीन नहीं कर सकता; यदि संयोग से वह कभी दूसरों के चंगुल में आ भी जाय तो वह जी-जान से पराधीनता के पाश को तोड़-फैंकने का प्रयत्न करती है, और प्रायः जल्दी ही या कुछ देर में, इस कार्य में सफल हो जाती है। निदान, कोई राष्ट्र चिर काल तक पराधीन नहीं रह सकता। इस सम्बन्ध में भारतवर्ष की स्थिति का विचार हम आगे करेंगे।

राष्ट्र-निर्माण और भारतवर्ष—भारतवर्ष की वर्त्तमान आर्थिक तथा राजनैतिक दुर्दशा एक खुला रहस्य है। अनेक बन्धु दिन-रात घोर परिश्रम करने पर भी भर-पेट अन्न और शरीर ढकने-योग्य वस्त्र नहीं पाते। उन्हें अपनी मानसिक उन्नति करने का अवसर ही प्राप्त नहीं। इसी प्रकार विदेशों में भी हमें समुचित सम्मान प्राप्त नहीं। केनेडा, दक्षिण अफरीका, मारीशश आदि में हमारे प्रवासी भाई साधारण नागरिक अधिकारों से वंचित हैं, और बहुत कष्ट एवं अपमान का जीवन व्यतीत करते हैं। ये बातें अब सह्य नहीं हैं, इनका इलाज करना है। और, यह कार्य हम भारतीय राष्ट्र का निर्माण करके ही कर सकेंगे।

भारतवर्ष के, राष्ट्र बनने की आवश्यकता संसार-हित की दृष्टि से भी है। किसी संस्था की उन्नति होने के लिए यह आवश्यक है कि उसका प्रत्येक सदस्य उन्नत हो, और सब की परस्पर में सहानुभूति और सहयोग हो। इसी प्रकार संसार-रूपी विशाल संस्था की समुचित उन्नति तभी होगी, जब उसका प्रत्येक भू-खंड-रूपी सदस्य स्वयं उन्नत और

स्वाधीन' होते हुए एक-दूसरे की भरसक सहायता करेगा; गोरी और काली जाति का भेद, योरपियन और एशियाई जाति का भेद न होगा। जो जातियाँ निर्बल और पराधीन हैं, वे संसार की सुख-शान्ति के लिए भयावह हैं। अतः प्रत्येक जाति को राष्ट्र बनना और संसार के हित-साधन में योग देना चाहिए। फिर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उदार नीति रखने वाले भारतवर्ष का तो राष्ट्र बनना और भी अधिक आवश्यक है।

दूसरा परिच्छेद

भारत में राष्ट्रीयता

स्वार्थ-रहित होकर अपनी जान और माल को देश और जाति के लाभ के लिए कुर्बान करना ही जातीयता का बीज है।

—भाई परमानन्द

उठो भाइयो ! स्वावलम्बी बनें, सभी शीघ्र राष्ट्रीयता में सनें।
स्वदेशाभिमानी सुज्ञानी बनें, जगत में किसी के न आगे नमें ॥

—हनुमत्प्रसाद जोशी

राष्ट्रीयता को साधन बनाकर ही साम्राज्यवाद के गढ़ का ध्वंस किया जा सकता है, और सच्ची अन्तर्राष्ट्रीयता स्थापित की जा सकती है।

—'जागरण'

भारत में राष्ट्रीय भावों की प्राचीनता—यहाँ राष्ट्र और और राष्ट्रीयता की कल्पना वैदिक साहित्य तक में पायी जाती है। यहाँ राष्ट्र के विराट स्वरूप का विचार प्राचीन काल से है—उस

प्राचीन काल से है जब कि आज के सभ्यताभिमानी अधिकांश राष्ट्रों का जन्म भी नहीं हुआ था। अतीत काल से भारतवर्ष के निवासी उत्तर से दक्षिण, और पूर्व से पश्चिम, समस्त देश को एक भू-खंड मानते हैं। हिन्दुओं का असख्य वर्षों से किया जाने वाला पूजा-पाठ इस का प्रत्यक्ष प्रमाण है। सकल्प में हिन्दू समस्त देश को श्रद्धा-पूर्वक स्मरण करता है। स्नान के समय हिन्दू गगा, यमुना, सरस्वती, गोदावरी, नर्बदा सिन्धु और कावेरी इन सात नदियों के नाम भक्ति-भाव से उच्चारण करता है*, जो इस देशके किसी विशेष भाग की न होकर समस्त देश में फैली हुई हैं। इसी प्रकार द्वादश ज्योतिर्लिंग, और चारों धाम आदि के नाम प्राचीन हिन्दुओं की देश सम्बन्धी विशाल कल्पना के परिचायक हैं। बौद्धों के मठ, आश्रम, विहार और स्तूप भी किसी एक स्थान में न होकर भारतवर्ष भर में फैले हुए हैं, और इस देश की एकता की स्मृति करा रहे हैं। राम और कृष्ण आदि केवल उत्तर भारत के ही आराध्य नहीं हैं, उनकी कथा सर्वत्र प्रचलित है। वेद, पुराण, श्रीमद्भगवद्गीता, रामायण और महाभारत सब की सम्मिलित सम्पत्ति हैं। जन्म-मरण, विवाह-शादी की रीति-रस्म, होली, दीवाली, श्रावणी और विजयदशमी के त्योहार सर्वत्र मनाये जाते हैं। यही कारण है कि आधुनिक काल में यहां राष्ट्र-निर्माण सम्बन्धी विचारों का ऐसी सुगमता से प्रचार हो रहा है। अन्यथा, संसार में इतने बड़े भू-खड में जहां नाना प्रकार की की विभिन्नताएं विद्यमान हों, एक राष्ट्र बनने का कोई दूसरा उदाहरण नहीं है।

---

* गंगे च यमुने चैव, गोदावरी सरस्वति।
नर्बदे सिंधु कावेरी, जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरू॥

भावों और व्यवहारों की इस अद्भुत् एकता से भारतवर्ष बहुत प्राचीन काल में अत्युन्नत हो गया था। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि सभी विषयों में इस देश की शक्ति महान थी। यही कारण था कि यहाँ समय-समय पर जो अनेक जातियाँ आयीं, वे यहाँ जन-समुदाय में हिल-मिल गयीं, और अन्त में यहाँ की ही हो गयीं; अब यहाँ यूनानी, हूण, सीथियन आदि के स्वतंत्र अस्तित्व का परिचय नहीं मिलता। आक्रमण करनेवाले व्यक्ति मित्र और बन्धु बन गये। विजेता पराजित होगये, उनकी संतान ने भारत-संतान कहलाने में गौरव अनुभव किया। यह बात अनेक शताब्दियों तक रही।

मध्य-युग की स्थिति—पश्चात् परिस्थिति बदल गयी। सम्राट अशोक के बाद यहाँ शासन सत्ता भी प्रायः निर्बल व्यक्तियों के अधिकार में रही। देश भिन्न भिन्न भागों में विभक्त हो गया, और प्रत्येक प्रान्त के आदमी अपने आपको अन्य प्रान्तवालों से पृथक् समझने लगे। इस प्रकार जब मुसलमान यहाँ आये भारतवर्ष की एकता घट गयी थी, भारतीय समाज अस्वस्थ और रुग्न था। उधर, मुसलमानों में उत्साह और साहस था, और अपने नये धर्म के प्रचार की प्रबल भावना भी थी। भारतवर्ष का हिन्दू समाज मुसलमानों को अपने में मिलाने में असमर्थ रहा; यही नहीं, क्रमशः उनकी विजय होने लगी। इसका कारण यह नहीं था कि यहाँ के सैनिक निर्बल थे, अथवा वे युद्ध-कला में प्रवीण न थे। नहीं, व्यक्तिगत रूप से यहाँ वीरता आदि की कमी न थी, कमी थी, संगठन और एकता के भावों की, सामूहिक बल की, अथवा, संक्षेप में राष्ट्रीयता की। वीर और साहसी राजपूतों ने अपनी संकुचित या अनुदार दृष्टि के कारण भारतवर्ष को

अनजान में पराधीनता की बेड़ियाँ पहनादीं; यद्यपि उनमें, प्रत्येक पुरुष और स्त्री ही नहीं, अनेक नवयुवक और नवयुवतियाँ भी मातृ-भूमि के लिए सर्वस्व न्यौछावर कर रही थीं; और, अपने प्राणों और सगे-सम्बन्धियों का मोह छोड़, वीर-गति प्राप्त करना हंसी-खेल समझती थीं। अफसोस! मातृभूमि की सीमा एक छोटे-से क्षेत्र तक परिमित थी। हम अपनी शक्ति का उपयोग अपने भाई बन्धुओं को नीचा दिखाने में कर रहे थे। देहली पर आक्रमण होता है, और 'जयचन्दों' को उसकी चिन्ता नहीं। क्यों? देहली को वे अपनी मातृभूमि का अग नहीं समझते। यह भाव अनेक रूपों में समय-समय पर काम करता रहा है। संक्षेप में बात यह कि राष्ट्रीयता के अभाव ने ही यहाँ मुसलमानों का आधिपत्य हाने दिया। क्रमशः विविध भागों में उनका राज्य स्थापित होता गया।

यों तो और भी कितने ही मुसलिम शासकों ने हिन्दू जनता के साथ अच्छा व्यवहार किया, पर यहाँ एक प्रबल राष्ट्र-निर्माण करने का भी यथेष्ट प्रयत्न अकबर ने किया, किन्तु वह अन्त तक वीरवर महाराणा प्रताप आदि हिन्दूओं का विश्वास, प्रेम और सहयोग प्राप्त न कर सका। फिर, उसके बाद राष्ट्रनिर्माण की ओर वैसा ध्यान बहुत समय तक नहीं दिया गया। औरंगजेब आदि की अदूरदर्शिता और साम्प्रदायिकता से भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में पुनः पृथक् पृथक् शासन स्थापित हो गया। अन्तत: मराठों के आधिपत्य में एक राष्ट्र बनने लगा। परन्तु इसी बीच में कुछ पाश्चात्य व्यापारियों ने यहाँ आकर अपना-अपना अड्डा जमा लिया, और अपनी चतुराई और विनयशीलता से हिन्दू और मुसलमान नरेशों का, तथा जनता का

मन मोह लिया। जब उनकी पारस्परिक ईर्षा और प्रतिद्वन्दिता बढ़ी तो उनके आपस में घोर युद्ध हुए, जिन में अज्ञान अथवा फूट के कारण भारतवासियों ने भी योग दिया। अन्ततः विजय अंगरेजों की रही, और इन्होंने सन् १८५७ तक छल, बल और कौशल से क्रमशः अधिकांश भारत पर, प्रत्यक्ष अथवा गौण रूप से, अपना आधिपत्य कर लिया। भारतवर्ष में अंगरेजों का शासन कानूनी तौर से सन् १८५८ ई० से स्थापित हुआ।

क्लाइव ने मीरकासिम के साथ व्यवहार करने में जिस तरीके का आश्रय लिया, उसे नैतिक नहीं कहा जासकता; और न वारनहेस्टिंग्स की करणी ऐसी थी, कि कोई भला अंगरेज उन पर अभिमान कर सके। सिंध की विजय का समर्थन स्वयं ब्रिटिश इतिहासकार भी नहीं करते। जिन दो युद्धों के फल-स्वरूप अंगरेज पंजाब में अपना कब्जा जमा सके, उनका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त है कि भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना करने में साम दाम, दण्ड, भेद की नीति से काम लिया गया। [शुभचिन्तक में उद्धृत 'लीडर' के लेख से]

अंगरेजी राज्यकी स्थापना का रहस्य—भारतीय इतिहास की इस मंजिल पर हम पुनः यह विचार करलें कि क्या कारण है कि सात समुद्र पार से आये हुए योरपियनों ने बिसातखानों, और गिरजाघरों से निकल कर रणक्षेत्र में आने का साहस किया, और क्यों वे विजय-लक्ष्मी से कृतार्थ हुए। यह अब कोई रहस्य नहीं है कि योरपियन कम्पनियों ने प्रायः युक्तियों और षड्यंत्रों से काम लिया। और केवल कुछ विशेष दशाओं में तलवार का उपयोग किया। इन्होंने भारतवर्ष के एक प्रान्त के सिपाहियों को कुछ सिक्कों का प्रलोभन देकर

उनके बल पर दूसरे प्रान्त को, और कभी-कभी उसी प्रान्त को 'विजय' किया है, 'स्वामि-भक्त' या 'नमकहलाल' सैनिकों ने अपने भाइयों और बहिनों पर हाथ साफ करके देश के एक-एक भाग को स्वाधीनता से वंचित किया है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि हमारी पराजय का कारण शत्रु पक्ष की वीरता नहीं, हमारी अपनी संगठन-हीनता या अराष्ट्रीयता थी। वास्तव में हम दूसरों से नहीं हारे, हम तो अपने ही आदमियों द्वारा पराजित हुए हैं। यदि भारतवर्ष में उस समय राष्ट्रीयता होती तो योरपियन कम्पनियों को किसी भी मूल्य से ऐसे भारतीय न मिलते जो भारतवर्ष को पराधीनता की बेडी पहनाने के लिए अस्त्र उठाते और सैनिक पद या दायित्व को लजाते।

भारतवर्ष में अंगरेजों का राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित हो जाने का एक विशेष परिणाम यह हुआ कि हमारे ऐतिहासिक विकास का स्वाभाविक क्रम रुक गया। जिस समय संसार के अन्य देशों में सामन्तशाही सर्वथ जर्जरित हो रही थी, भारतवर्ष में अंगरेजों ने न केवल उसे नष्ट होने से बचाया, वरन् उसपर अपना पूर्ण नियन्त्रण रखते हुए उसे अधिकाधिक दृढ़ किया। पीछे उन्होंने उसका उपयोग देश की आजादी के मार्ग में रोड़ा अटकाने की दृष्टि से किया, जिसका कुफल इस समय तक हमारे सामने है।

राष्ट्रीयता का विकास—अस्तु, अठारहवीं शताब्दी में धर्म, समाज, शिक्षा, साहित्य सभी क्षेत्रों में हम अपनेपन को खोकर कैसे असहाय हो रहे थे, और उन्नीसवीं शताब्दी में किस प्रकार यहाँ जागृति का कार्य आरम्भ हुआ, ब्रह्म समाज, आर्य समाज, थियोसोफीकल सोसायटी, और रामकृष्ण मिशन आदि संस्थाओं के प्रवर्तकों तथा

सदस्यों ने क्रमशः विविध क्षेत्रों में क्या-क्या सुधार किया, यह हमने विस्तार-पूर्वक अपनी 'भारतीय जागृति' पुस्तक में बताया है। यद्यपि इनके आन्दोलन का मुख्य विषय राजनीति नहीं था, तथापि इस क्षेत्र में भी इनसे बहुत सहायता मिली। वास्तव में जब कोई चिकित्सक किसी रोगी का ठीक इलाज करना चाहता है तो वह उसके किसी अंग की नितान्त अवहेलना नहीं कर सकता। राजा राममोहन राय ने शिक्षा-प्रचार के अतिरिक्त कई राजनैतिक सुधारों का प्रयत्न किया। स्वामी दयानन्द जी ने अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' नामक ग्रन्थ में निर्भीकता-पूर्वक यह लिखा कि विदेशी राज्य से, चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो, स्वदेशी राज्य चाहे उस में कितनी ही त्रुटियां क्यों न हों, अच्छा होता है। स्वामी जी की प्रेरणा से लोगों में स्वदेशी, स्वराज्य और चक्रवर्ती साम्राज्य आदि की विलुप्त भावनाएँ पुनः जागृत हुईं। ऐनीबिसेन्ट ने तो राजनैतिक तथा राष्ट्रीय आन्दोलन में क्रियात्मक भाग लिया और भारतीय नेताओं के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर भारतीय स्वराज्य-यज्ञ के लिए जेल आदि का कष्ट उठाया। श्री० रामकृष्ण परमहंस और उनके शिष्य श्री० विवेकानन्द जी ने विदेशों में भारतीय धर्म के गौरव की घोषणा की। इन विविध महानुभावों के परिश्रम से भारतवर्ष को अपने अतीत गौरव और प्राचीन आदर्शों की स्मृति हुई, और लोगों में स्वाभिमान का भाव उदय हुआ, और इस प्रकार राष्ट्रीयता के भावों के विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ।

विकास के कारण—हमें तनिक यह भी विचार कर लेना चाहिए कि यहाँ राष्ट्रीयता के विकास के मूल कारण क्या हैं। वास्तव में राष्ट्रीयता को जन्म देनेवाली कोई खास एक-दो बातें नहीं हैं,

वरन् कई एक हैं। इनमें पाश्चात्य शिक्षा और अंगरेजी भाषा के प्रचार को भी अच्छा स्थान है; यद्यपि वह गौण है। इनसे जो हानि हुई है, वह अब सर्व-विदित है, तथापि यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इन्होंने राष्ट्रीय जागृति में खासा भाग लिया है। पाश्चात्य शिक्षा से हमें योरपीय राजनीतिज्ञों के स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता और देश-भक्ति आदि के विचारों का ही ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, हमें यह भी मालूम हुआ कि वहाँ, विविध देशों में राष्ट्रीय आन्दोलन किस प्रकार हुए और हम उनका अपने यहाँ कहाँ तक उपयोग कर सकते हैं। उन देशों के स्वराज्य तथा अधिकार-प्राप्ति के विविध प्रयत्नों ने यहाँ के विचारकों को इस दिशा में अग्रसर होने की प्रेरणा की। फिर, अंगरेजी भाषा ने भिन्न-भिन्न प्रान्तों के शिक्षितों को परस्पर में विचार-विनिमय करने की सुविधा प्रदान की, उससे पूर्व यहाँ कोई एक अन्तर्प्रान्तीय भाषा न होने से यह कार्य अति कठिन था। राष्ट्र-भाषा हिन्दी का उस समय ऐसा प्रचार नहीं हुआ था। यद्यपि अंगरेजी उस समय तो क्या, अब भी जनता की भाषा नहीं बनी है, और न कभी बनने की आशा ही है, तथापि शिक्षित वर्ग के लिए उसने राष्ट्र-भाषा का सा काम दिया, इसमें सन्देह नहीं है। अंगरेजों के सम्पर्क के कारण, समय-समय पर यहाँ के अनेक सज्जनों ने विदेश-यात्रा की, और इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव किया कि स्वाधीन देशों के नागरिकों तथा भारतवासियों एवं प्रवासी भारतीयों की स्थिति में कितना अन्तर है। वे विदेशी शासन का जुआ उतार-फेंकने के लिए बेचैन हो गये, और इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति हुई।

अन्य देशों की जागृति भी यहाँ राष्ट्रीयता के विकास में सहायक

हुई। जापान को रूस पर विजय प्राप्त करते तथा अरब, मिस्र, टर्की, फारिस आदि को करवटें बदलते और निद्रा-त्याग करते देख कर भारतवासियों को यह विचार होने लगा कि आखिर हम भी मनुष्य हैं, हम संगठित आन्दोलन करके अपने राष्ट्र का उद्धार क्यों न करें। अस्तु, पहले-पीछे इन विविध बातों ने भारतवर्ष में राष्ट्रीयता के विकास में सहायता प्रदान की है। इस प्रसंग में भौतिक विज्ञानकी उन्नति को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में क्रमशः रेल, तार, डाक आदि के प्रचार और उन्नति से दूर-दूर के आदमियों के परस्पर मिलने जुलने और पत्र-व्यवहार करने की सुविधा हो गयी। आमदरफ्त बढने से प्रान्तीयता के भावों का ह्रास होने लगा, दृष्टि-कोण में उदारता आने लगी। इसके अतिरिक्त, मुद्रण यन्त्र की उन्नति होने से पत्र-पत्रिका और पुस्तकें सर्व-साधारण के लिए सुलभ हो गयीं। इनके द्वारा, विशेषतया राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं द्वारा, राष्ट्रीय भावों के प्रचार में विलक्षण सहायता मिली है।

भारतवर्ष के हिन्दू मुसलमान सामन्तों और जागीरदारों आदि का मिलकर, सन् १८५७ ई० के स्वातन्त्र्य-युद्ध में भाग लेना जहाँ इस बात का सूचक है कि भारतवर्ष में राष्ट्रीय भावों का प्रचार आरंभ हो हो गया था, उस युद्ध की असफलता से यह भी प्रतीत होता है कि उस समय तक राष्ट्रीयता का विकास बहुत अपूर्ण और अपर्याप्त हो पाया था।* इस असफलता के बाद भी देश में शासन के प्रति

* इस असफलता का एक मुख्य कारण यह था कि यद्यपि इस युद्ध के सब दलों का यह उद्देश्य अवश्य था कि भारत से अंगरेजी सत्ता हटा दी जाय, उनके अन्तिम ध्येय में कोई समता नहीं थी, कोई कुछ चाहता था, कोई कुछ। सब दलों में, जैसा चाहिए, सहयोग न था।

विद्रोह की भावनाओं का परिचय समय-समय पर मिलता रहा; तथापि अब कोई सङ्गठित दल ऐसा नहीं रहा, जो विदेशी सत्ता का भली प्रकार सामना करे। तत्कालीन समाज-सङ्गठन के अनुसार दो ही विचार-धाराएँ प्रमुख थीं; सशस्त्र युद्ध या पराधीनता की स्वीकृति। युद्ध राजाओं और सामन्तों के नेतृत्व में ही हो सकता था, अतः उनकी विफलता के बाद राजनैतिक अवस्था ऐसी हो गयी, जिसमें हमने विदेशी राज्य को स्वीकार कर लिया और, उसके अनुसार अपने आपको ढालने का कार्य आरभ कर दिया। हाँ, जब कभी कोई बात विशेष कष्टदायक या अपमानजनक प्रतीत हुई तो उसके 'सुधार' करने का, सुविधाएँ प्राप्त करने का, प्रयत्न किया गया। इस प्रकार स्वातंत्र्य-युद्ध की असफलता ने देश में विधानवाद और बृटिश साम्राज्य की छत्र-छाया के समर्थकों को नेतृत्व प्रदान कर दिया।

कांग्रेस और राष्ट्रीयता—ऐसे ही विचारों के परिणाम-स्वरूप अन्यान्य संस्थाओं में यहाँ सन् १८८५ ई० में काग्रेस या राष्ट्र-सभा का जन्म हुआ। इसके सूत्र-सचालक विधानवादी थे। क्रांतिकारी भावना या कार्यक्रम उनके पास तनिक भी न था। काग्रेस आरंभ में मुट्ठी-भर आदमियो की सस्था थी, अब इसका संगठन नगर-नगर और गाँव-गाँव में है। यह जनता की संस्था है। इसकी विशेषता यह है कि इसने भारतीयों के सामने राजनैतिक मुक्ति का प्रश्न उपस्थित किया, जो राष्ट्रीयता के भाव को पुष्ट करने का सबसे बड़ा साधन होता है। काग्रेस ने देश की स्वतंत्रता के आदोलन का संचालन करके भारतवर्ष के दूर-दूर रहने वाले आदमियों के, संकीर्ण प्रान्तीयता के भाव को हटाने का प्रयत्न किया है, तथा यहाँ रहने वाली अनेक

जातियों के व्यक्तियों को साम्प्रदायिक दृष्टि-कोण से ऊपर उठने की प्रेरणा की है। जैसे-जैसे कांग्रेस की आयु तथा शक्ति बढ़ी है, उसके द्वारा जनता में भारतीयता की भावना जाग्रत करने का विराट आंदोलन होता रहा है।

निस्सन्देह अभी लक्ष्य प्राप्त होने में बहुत कमी है। कितनी ही साम्प्रदायिक संस्थाएँ कांग्रेस का विरोध करके अपने पृथक् अस्तित्व की घोषणा करती रहती हैं। देशी नरेश, नवाब तथा जमींदार ही नहीं, कहीं-कहीं तो किसान या मजदूर तक भी अपना अलग झंडा फहराते हैं। यहाँ ही जन्मे हुए, भारतीय कहे जानेवाले पुलीस-कर्मचारी जनता को निर्दोष जानते हुए भी उस पर लाठी-वर्षा करने आदि में कुछ सकोच नहीं करते। 'भारतीय' सैनिकों का उपयोग भारतीय जनता के हित के विरुद्ध किया जा सकता है। जबकि सहस्रों युवक और महिलाएँ देश-सेवा के लिए जेल आदि की यातनाएँ सहने को तत्पर हैं, उन अभागों का भी अभाव नहीं है जो अधिकारियों की हाँ-हजूरी करने में, और पार्टियों अर्थात् दावतों आदि में सम्मिलित होने में, सकोच या लज्जा का अनुभव नहीं करते। ये बातें इस बात के दुखदायी प्रमाण हैं कि देश में राष्ट्रीयता का विकास यथेष्ट परिमाण में नहीं हुआ है। अन्यथा कोई भी आदमी, किसी भी विभाग या जाति का ऐसा नहीं मिलना चाहिए जो अपने स्वार्थ के लिए राष्ट्र-विरोधी कार्य करे। परन्तु निराशा की बात नहीं है; यद्यपि समय-समय पर हमारी प्रगति रुकी हुई मालूम पड़ी है, व्यापक दृष्टि से देखें तो यहाँ राष्ट्रीयता की वृद्धि दृढ़ता-पूर्वक हो रही है। ज्यों-ज्यों स्वाधीनता प्राप्त करने में हम सफल होते जायंगे, राजनैतिक एकता तथा राष्ट्रीयता

की वृद्धि होना स्वाभाविक है। इस विषय में विशेष आगे लिखा जायगा।

राष्ट्रीयता पर कुछ आक्षेप

हम पाठकों से यह छिपाना नहीं चाहते कि अन्य अनेक वस्तुओं की भांति राष्ट्रीयता में गुणों के साथ दोष भी हो सकते हैं, अथवा राष्ट्रीयता का दुरुपयोग भी किया जा सकता है। बहुत-से आदमी इसके दुरुपयोग अथवा अतिवाद को, जो सर्वत्र त्याज्य है, सम्मुख रखकर इस पर कुछ आक्षेप किया करते हैं। हमें उनपर शान्ति-पूर्वक विचार करके यथा-सम्भव राष्ट्रीयता के दुरुपयोग से होनेवाली हानियों से बचना चाहिए, और अपने व्यवहार में उसके शुद्ध सच्चे आदर्श का निरन्तर ध्यान रखना चाहिए।

राष्ट्रीयता और व्यक्तित्व—कुछ लोगों का कथन है कि 'जब किसी देश के मनुष्यों में राष्ट्रीयता का भाव उदित हो जाता है, तो वे लोग सब तरफ से अपने-आप को संगठित करने लगते हैं, उनका चिन्तन या कार्य स्वतन्त्र नहीं रहता, राष्ट्रीयता के भाव में व्यक्तित्व का भाव विलीन हो जाता है। व्यक्ति के व्यक्तिगत सुख-दुख, आशा-निराशा, दया, स्नेह, प्रेम आदि सुकुमार वृत्तियाँ राष्ट्रीयता के भार से दब जाती हैं। मनुष्य राष्ट्र-रूपी यन्त्र का एक पुर्जा मात्र रह जाता है।'

तनिक विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि यह राष्ट्रीयता के दुरुपयोग का अतिरंजित चित्र है। वास्तव में राष्ट्रीयता मनुष्य को यह शिक्षा देती है कि वह अपने विचार-क्षेत्र को विस्तृत करे। मनुष्य केवल अपने लिए या अपने परिवार के आदि के लिए ही नहीं है; उसे देश भर के मनुष्यों को, चाहे वे किसी भी जाति, या धर्म आदि के क्यों न हों, प्रेम करना चाहिए। उनके सुख-दुख, आशा-निराशा आदि को अपना लाभ-हानि समझना चाहिए, अपने तथा अपनी जाति के स्वार्थों की बलि देकर भी राष्ट्र हित का साधन करना चाहिए। इस प्रकार यह मनुष्य को उस की असभ्य अवस्था की परिमित क्षेत्र वाली स्थिति से निकाल कर

उसके प्रेम, दया, त्याग आदि सद्गुणों के विकास में सहायक होती है।

राष्ट्रीयता और धर्म—राष्ट्रीयता पर एक आक्षेप यह है कि यह धर्म का विरोध करती है; यह लोगों को धर्म-त्याग करने की प्रेरणा करती है। इस सम्बन्ध में यह वक्तव्य है कि ऐसे धार्मिक आचार-व्यवहार को तो त्याग ही दिया जाना चाहिए जो संकीर्णता या अनुदारता का पोषक हो, जो अवनतिकारी हो, या जो अन्ध-विश्वासों और कुरीतियों का द्योतक हो। हमारा धर्म ऐसा होना चाहिए जो हमारी आध्यात्मिक उन्नति करते हुए, हमें मानव समाज से प्रेम करना सिखाये, किसी का अहित न करते हुए, तथा सब से सहानुभूति रखते हुए देश बन्धुओं की सुख-समृद्धि में योग देने के लिए प्रेरित करे। ऐसे धर्म को राष्ट्रीयता से कोई भय नहीं हो सकता। वास्तव में सच्चे धर्म और सच्ची राष्ट्रीयता का परस्पर में घनिष्ट सम्बन्ध है, दोनों का मनुष्य और जातियों के विकास में महत्व-पूर्ण स्थान है।

राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता—कुछ लोगों का कथन है कि साम्प्रदायिकता और प्रान्तीयता की भांति राष्ट्रीयता भी अपने क्षेत्र में तो हर प्रकार की उन्नति का आयोजन करती है परन्तु उस से बाहर की दुनिया को प्रतिद्वन्द्वी समझती है; अन्य राष्ट्रों के नागरिकों से शत्रुवत् व्यवहार करना सिखलाती है। निस्सन्देह आधुनिक सभ्यता वाले कुछ देशों ने राष्ट्रीयता के प्रवाह में पड़ कर अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए अन्य जातियों पर नाना प्रकार के भयंकर अत्याचार किये, यहाँ तक कि अनेक जातियों का दमन करके अपनी प्रभुता स्थापित करने, अथवा उन्हें पराजित या समूल नष्ट करके अपने उपनिवेश स्थापित करने का षड्यन्त्र रचा है। बहुधा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण करने की तैयारी करता रहता है, इंगलैंड और जर्मनी की खटक रही है, जर्मनी का रूस से संघर्ष है, रूस जापान के लिए भयावह है। इस प्रकार चहुँ ओर भय और आशंका का वातावरण है।

परन्तु यह तो राष्ट्रीयता का दुरुपयोग मात्र है, जो अति भौतिकवादियों

द्वारा किया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित है कि स्वयं राष्ट्रीयता का आदर्श बुरा है। हमें राष्ट्रीयता के सच्चे, शुद्ध स्वरूप का ध्यान रखना चाहिए, और उसीका स्वागत करना चाहिए। अस्तु, अन्तर्राष्ट्रीयता का अभिप्राय यह है कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रके सुख-दुख को अपना सुख-दुख समझे, दूसरों के हितों में बाधक न हो, उनके ज्ञान, अनुभव और शक्तियों से न्यायोचित लाभ उठाने में, एवं उनकी अच्छी बातों का अनुकरण करने में संकोच न करे। और, यह हम ऊपर बता ही आये हैं कि (सच्ची) राष्ट्रीयता मनुष्य की संकीर्णता हटा कर उसे उदारता का पथ दर्शाती है। अन्तर्राष्ट्रीयता का यह आशय कदापि नहीं है कि कोई देश दूसरों के दुर्गुणों का अनुकरण करे, अथवा दूसरे राष्ट्र द्वारा अपनी भूमि, जनता सम्पत्ति या संस्कृति आदि पर आक्रमण किये जाने की दशा में आत्म-रक्षा न करे और उनकी रक्त-शोषक साम्राज्यवादिता को चुपचाप सहन करता रहे। नहीं, अन्तर्राष्ट्रीयता का ध्येय तभी सफल हो सकता है, जब प्रत्येक देश समर्थ और समृद्धिवान हो, वह साम्राज्यवादी देश के अत्याचारों का भली भांति सामना कर सके। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक देश स्वाधीन हो और राष्ट्रीयता के भावों से युक्त हो। इतिहास साक्षी है कि राष्ट्रीयता के भाव ने नष्ट होती हुई जातियों को मृत्युसे बचाया; यही नहीं, उन्हें पुनः महान और बलशाली बनाया है। अन्यायी या अनियंत्रित शासन से छुटकारा पाने के लिए प्रजा को राष्ट्रीयता से बढ़ कर कोई और सहारा नहीं मिला है। सिकंदर, सीजर, लूई, नैपोलियन, औरङ्गज़ेब आदि की आसुरी शक्तियों का सामना राष्ट्रीयता के बल पर ही सफलता-पूर्वक किया गया है। अस्तु, वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में राष्ट्रीयता बाधक न होकर सहायक ही है।

तीसरा परिच्छेद

राष्ट्रीयता के साधन

देश के सब निवासी देश से हित रखें, और अपने देश के विरुद्ध विदेशियों से मिलना पाप समझें तो भिन्न-भिन्न जाति, धर्म और भाषा के रखने वाले भी एक राष्ट्र कहला सकते हैं।

—प्रो० बालकृष्ण शर्मा

पिछले परिच्छेदों में इस बात का विचार किया गया है कि राष्ट्र-निर्माण कैसे होता है, और भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का कहाँ तक विकास हुआ है। यह भी जान लेना आवश्यक है कि राष्ट्रीयता के साधन क्या-क्या होते हैं, और भारतवर्ष में उनकी स्थिति कैसी है। उदाहरणवत्, भौगोलिक विचार से यह देश कैसा है, यहाँ भाषा, धर्म, जाति और संस्कृति पृथक्-पृथक् हैं, अथवा उनमें एकता का बोध होता है; शासन का प्रभाव कैसा पड़ रहा है। स्मरण रहे कि ये बातें राष्ट्रीयता की सहायक-मात्र हैं, आवश्यक कारण नहीं।

भौगोलिक स्थिति—मनुष्य पर प्राकृतिक बातों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। कुछ समय पहले योरपीय समाजशास्त्रियों का एक दल मनुष्यों के विविध गुण-दोषों, उनकी प्रकृति, रहन-सहन खान-पान, आवश्यकताओं, संस्थाओं, आन्दोलनों तथा इतिहास आदि का एकमात्र

कारण भौगोलिक स्थिति मानता था। अब इस सिद्धान्त का खंडन हो चुका है, तथा आमदरफ्त के साधनों की आधुनिक वृद्धि ने भौगोलिक स्थिति का महत्व भी पूर्वापेक्षा कम कर दिया है, तथापि किसी भू-भाग को एक देश मानने के लिए उसकी भौगोलिक एकता का विचार करना आवश्यक है।

भारतवर्ष के सम्बन्ध में बात यह है कि प्रकृति ने इसे एशिया महाद्वीप का एक सर्वथा पृथक् देश बना रखा है। संसार में कितने ही राष्ट्र ऐसे हैं, जिनकी कोई प्राकृतिक सीमा नहीं है; वे कृत्रिम निर्माण-कार्य द्वारा अपने निकटवर्ती राष्ट्रों से पृथक् किये गये हैं; उनकी सीमा के सम्बन्ध में प्रायः वाद-विवाद होता रहता है। इसके विपरीत, भारतवर्ष के उत्तर में हिमाचल की दुर्गम, ऊँची और विशाल दीवार खड़ी है; और शेष तीन ओर हिन्द महासागर के रूप में अपार जल-राशि है। केवल पश्चिम की ओर एक छोटा सा रास्ता पर्वत मालाओं के बीच में से है; प्राचीन समय में जो विदेशी यहाँ आये, वे इसी मार्ग से होकर आ सके थे। अस्तु, भौगोलिक दृष्टि से अठारह लाख वर्ग मील के क्षेत्रफल वाली, उनतालीस कोटि मनुष्यों की, उस निवास-भूमि के एक देश होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता, जिसकी लम्बाई-चौड़ाई अठारह-अठारह सौ मील के लगभग है। भारतवर्ष के इस क्षेत्र में विविध बड़ी-बड़ी नदियाँ और पहाड़ियाँ अवश्य हैं, परन्तु ये अज्ञान की अवस्था में ही विभाजक कारण हो सकती हैं। सभ्यता की वृद्धि, और आमदरफ्त के साधनों की उन्नति के समय में इनसे देश की एकता में बाधा नहीं पहुँचती।

भाषा—राष्ट्रीयता की दृष्टि से भाषा की एकता का महत्व

स्पष्ट है। जो लोग हमारी भाषा ही नहीं समझते, वे हमसे भौगोलिक अथवा रक्त-सम्बन्ध रखते हुए भी, हमारे सुख-दुख में क्या साथ दे सकते हैं? वे तो हमें पराये ही प्रतीत होंगे। समान भाषा-भाषियों में विचार-विनिमय की सुविधा होती है, और उनमें क्रमशः विचारों की एकता हो जाती है। और, संसार में, विशेषतया प्रजातंत्र युग में, विचारों का ही राज्य होता है।

कुछ पाश्चात्य तथा कई भारतीय लेखक यहाँ की भाषाकी अनेकता के रोग को बहुत भयंकर बतलाकर कहने लगते हैं कि भारतवर्ष न पहले कभी एक राष्ट्र बना, न अब है, और न आगे ही कभी हो सकता है। हमें उनकी अत्युक्ति और अनुदार दृष्टि पर दया आती है। पश्चिम में कई ऐसे राष्ट्र विद्यमान हैं, जिनमें एक से अधिक भाषाएँ प्रचलित हैं। उदाहरणवत् स्विट्ज़रलैंड के प्रजातंत्रीय राष्ट्र की पार्लिमैंट के मेम्बर तीन भाषाओं में से किसी का प्रयोग कर सकते हैं, फ्रांस का राष्ट्र तीन भाषाओं से कम में काम नहीं चला रहा था। अमरीका के संयुक्त-राज्यों की सी भाषाओं की विभिन्नता तो प्रायः किसी भी देश में नहीं, तो भी वे एक राष्ट्र, और प्रबल राष्ट्र माने जाते हैं। ब्रिटेन की अंगरेजी, वेल्श और स्काच भाषाओं में वैसा ही भेद है, जैसा भारतवर्ष की दो प्रांतीय भाषाओं में है, तथापि उस की राष्ट्रीयता को कोई अस्वीकार नहीं करता।

अब भारतवर्ष की बात लीजिए। प्राचीन समय में चिरकाल तक संस्कृत यहाँ की देश-भाषा रही, अब भी यह देश-भर के हिन्दुओं की धार्मिक भाषा है, और पूजा-पाठ, तथा धर्म और वैद्यक आदि के अध्ययन के लिए व्यवहृत होती है। बीच में इस देश की कोई प्रधान

भाषा न रही; अपने-अपने प्रान्त में वहाँ की भाषा बड़ी बन गयी। परन्तु लेखकों की यह समझ भ्रम-पूर्ण है कि भारतवर्ष में सैकड़ों भाषाएँ प्रचलित हैं, क्योंकि इस कथन में भाषा और बोली की अवश्यम्भावी विभिन्नता भुला दी गयी है, और सब को भाषा ही समझ लेने से उन की संख्या अनगिनत कर दी गयी है। असल में यहाँ की प्रचलित भाषाएँ अंगुलियों पर गिनी जा सकती हैं। उनमें से मुख्य ये हैं—हिंदी या उर्दू (जिस के सरल रूप को हिन्दुस्तानी भी कहते हैं), बंगला, मराठी, गुजराती, आसामी, उड़िया, सिंधी, पंजाबी, कनाड़ी, तथा तामिल और तेलगू। शेष सब इन्हीं में से किसी-न-किसी के अन्तर्गत बोलियाँ हैं, जिनकी संख्या जन-समाज के परस्पर सम्बन्ध तथा सभ्यता की वृद्धि के साथ घटती जा रही है। इन भाषाओं में से कई एक संस्कृत से घनिष्ट सम्बन्ध रखती हैं, और इस लिए एक-दूसरे से थोड़ी-बहुत मिलती हैं। पुनः इन भाषाओं में भी हिंदी ऐसी है, जो बिहारी, राजस्थानी, पंजाबी, आदि अपनी रूपान्तरित भाषाओं और बोलियों सहित भारतवर्ष के प्रत्येक सात आदिमों में से तीन की मातृभाषा है, जिसे वे दिन-रात बोलते हैं। तीन-चौथाई से अधिक भारतवासी हिंदी समझ सकते हैं। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन आदि के उद्योग से मदरासमें भी हिंदी का प्रचार बढ़ता जा रहा है। अब हिंदी बोलने और समझने वाले व्यक्ति सभी प्रान्तों में मिल जाते हैं। प्रत्येक प्रांत से हिंदीकी पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं।

लिपि—शिक्षित व्यक्तियों के विचार एक-दूसरे को भली भाँति मालूम होने के लिए, भाषा के अतिरिक्त समान लिपि की आवश्यकता हुआ करती है। लिपि में प्रधानतया ये गुण देखे जाते हैं—(१)

सौंदर्य, (२) शीघ्र-लेखन और (३) निश्चय अर्थात् जो लिखा जाय, वही पढ़ा जाय; उसमें शंका न हो सके। इस विचार से, भारतवर्ष भर की (एवं संसार के विविध देशों की) प्रचलित लिपियों में देवनागरी सर्व-श्रेष्ट है। कुछ आदमी अपनी प्रान्तीय भाषा का पक्षपात करते हैं, तथा मुसलमान फारसी लिपि का समर्थन करते हैं; यह देखकर कुछ सज्जन यहाँ रोमन लिपि के प्रचार की बात उठाया करते हैं। परन्तु इसमें कुछ तत्व नहीं है। इसका विशेष विचार आगे किया जायगा।

धर्म या मत—इस सम्बन्ध में पहले तो यही विचारणीय है कि किसी देश की एकता के लिए धार्मिक विश्वासों का ऐक्य कहाँ तक अनिवार्य है। योरोपीय देशों के इतिहास में एक समय था, जब एक ईसाई सम्प्रदाय की स्त्री का विवाह उसी सम्प्रदाय के पुरुष से होता था, वह ईसाई मत के भी दूसरे सम्प्रदाय के पुरुष के साथ नहीं रह सकती थी। रोमन-कैथलिक ईसाई, प्रोटेस्टैंटों के खून के प्यासे थे; और, प्रोटेस्टैंट ऐसे अवसर की कामना करते थे कि रोमन-कैथलिकों को नेस्तनाबूद करदें। उन समय वहाँ यह सिद्धान्त प्रचलित हुआ था कि एक देश मे एक ही धर्म के आदमी रहें तो उसकी एकता पुष्ट हो। परन्तु अब समय ने उन देशों को अधिक सहनशील बना दिया है। भिन्न-भिन्न धर्मों में विश्वास रखने वाले भी एक देश में साधारणतया सुख-चैन से रह सकते हैं। कभी-कभी कुछ अज्ञानी जोशीले अथवा कट्टर आदमी कुछ बखेड़ा खड़ा कर देते हैं, उससे सार्वजनिक कार्य में क्षणिक बाधा आ जाती है, परन्तु राष्ट्र के अङ्ग-भङ्ग होने की कोई शङ्का नहीं होती।

भारतवर्ष की धार्मिक सहनशीलता तो सदा से प्रशंसनीय रही है।

यहाँ कभी ऐसे रोमाचकारी दृश्य देखने में नहीं आये, जिन के वृत्तांतों से ईसाई देशों के इतिहास भरे पड़े हैं। भारतवर्ष में हिन्दू, बौद्ध और पारसियों का साथ-साथ रहना अन्य राष्ट्र-उपाधिधारी देशों के लिए एक अनुकरणीय उदाहरण है। मुसलमान-काल में भी यहाँ इतना भेद-भाव नहीं रहा, जितना स्वार्थी इतिहास-लेखकों ने सिद्ध करने की चेष्टा की है। इने-गिने बादशाहों या उनके कुछ कट्टर सहधर्मियों के दुराग्रह के अतिरिक्त, जनता में कोई विशेष धार्मिक झगड़ा नहीं हुआ। हिन्दू मुसलमान जन-साधारण यहाँ उस समय तक बराबर प्रेम-पूर्वक रहते रहे, जब तक कि योरपियनों ने यहाँ शासन सत्ता प्राप्त करते हुए स्वार्थ-बुद्धि से प्रेरित होकर उनमें फूट न डाली। अस्तु, अब दोनों ही धर्म वालों में हर प्रकार के विचार वाले व्यक्ति हैं। दोनों में मूर्ति-पूजक हैं और मूर्ति-विरोधी भी; भाग्यवादी हैं और कर्मवादी भी। बगाल और बिहार के कितने ही मुसलमान, ब्राह्मणों के द्वारा, हिन्दू-मन्दिरों में पूजा करवाते हैं। इसी तरह अनेक हिन्दू, मुसलमानों के मकबरों और ताजियों पर शीरनी ही नहीं चढ़ाते, स्वय ताजिये रखते और मनौतियाँ करते हैं। अस्तु, इन बातो का विशेष विवरण देने की आवश्यकता नहीं; हर्ष की बात है कि हम बाहरी मत-भेदों की निरर्थकता को समझने लगे हैं; धर्म के मूल तत्व अब राष्ट्रीय कर्त्तव्य का स्वरूप धारण कर रहे हैं।

रीति-रस्म और रहन-सहन—यदि किसी देश में रीति-नीति या आचार-व्यवहार सम्बन्धी भिन्नता हो तो विशेष चिन्ता की बात नहीं। ऐसा कौनसा आदर्श राष्ट्र है, जिसमें ये सर्वत्र एक समान हों? यह बात दुर्लभ है, और अनावश्यक भी है कि करोड़ों आदमी एक ही तरह की रीति-रस्म बर्तें। थोड़ी सी भिन्नता तो सुन्दर तथा उपयोगी ही होती

हैं। फिर, पृथ्वी के अन्य देशों की अपेक्षा भारतवर्ष की रीति-रस्में अधिक समानता लिये हुए हैं। विवाह-शादी, जन्म-मरण, रहन-सहन तीज त्योहार आदि की मुख्य-मुख्य बातों में बहुधा एकता ही मिलती है।

श्री० पण्डित सुन्दरलाल जी ने मदरास में, अपने दीक्षान्त भाषण में कहा था, "कम से कम उत्तर भारत में हर हिन्दू शादी के समय 'नौशाह' बनता है। हिन्दू की शादी बिना सेहरे और जामे के नहीं होती, और करोड़ों मुसलमानों की शादी बिना कंगने के। सेहरा और जामा मुसलमानी है, और कंगना हिन्दू। मुझे नहीं मालूम, भारत भर में कितने मुसलमान घर मिलेंगे, जिनमें लड़कों और लड़कियों का कंछेदन और नकछेदन नहीं होता। दोनों रिवाज हिन्दू हैं, जिनका इसलाम से कोई सम्बन्ध नहीं। मुझे इन मिसालों को बढ़ाने की जरूरत नहीं है। इस तरह की छोटी-छोटी बातों में यदि हम ईमानदारी से देखें तो अनेक बातों में एक पेशावर के हिन्दू और एक मदरास के हिन्दू में कहीं अधिक अन्तर है, बनिस्बत एक पेशावर के हिन्दू और पेशावर के मुसलमान में।"

पहनावे की बात लीजिए। साधारण हिन्दू और मुसलमानों में— पुरुष हों या स्त्री—उनकी पोशाक से कोई स्पष्ट भिन्नता नजर नहीं आती। कुछ मुसलमानों ने टर्किश कैप और तहमत का, अपनी समाज में, विशेष प्रचार करना चाहा। पर उन्हें इसमें सफलता न मिली। साधारणतया मुसलमान जिस प्रान्त में रहते हैं, वहाँ की ही पोशाक पहनते हैं। पहले यहाँ विशेषतया ईसाई ही टोप लगाते थे; अब अनेक हिन्दू और मुसलमान भी लगाते हैं। गांधी टोपी को सर्वसाधारण ने अपना लिया है। इस प्रकार पोशाक से इतना भिन्नता का नहीं, जितना एकता का परिचय मिल रहा है।

जातियाँ—एक ही पूर्व पुरुषों की सन्तान की शारीरिक रचना, आकृति, हाव-भाव और विचारों में बहुत-कुछ समानता अथवा एकता होती है, विशेषतः उस समय जबकि वे चिरकाल तक एक ही स्थान पर रहती रही हों। प्राचीन काल में प्रत्येक जाति विवाह सम्बन्धी कठोर नियमों को प्रचलित करके अपना रक्त शुद्ध रखने, और इस प्रकार अपनी पृथक्ता बनायी रखने का बड़ा प्रयत्न करती थी; उदाहरणार्थ, भारतीय आर्यों में अभी तक भी इसका बहुत विचार रहता है। परन्तु ज्यों ज्यों समय बीतता गया, इसमें अन्तर आता गया; आमदरफ्त की सुविधाओं ने भी विविध जातियों के मिश्रण में सहयोग प्रदान किया। अब कोई जाति पूर्णतः शुद्ध रक्त का अभिमान नहीं कर सकती।

प्राचीन काल में एक जाति के आदमी प्रायः एक देश विशेष में ही रहते थे, पीछे अपनी विविध आवश्यकताओं से प्रेरित होकर विभिन्न देशों से सम्बन्ध बढ़ाने तथा उनमें रहने लगे। आज-कल तो प्रत्येक देश में कई-कई जातियों के आदमी मिलते हैं, और कोई देश केवल एक ही जाति का निवास-स्थान होने का दावा नहीं कर सकता; हाँ, अनेक देशों में एक-एक जाति की प्रधानता अवश्य होती है। अस्तु, कई जातियों के होने से किसी देश की एकता में बाधा होना आवश्यक नहीं है। उन्नत देशों में प्रत्येक जाति अपने व्यवहार में स्वाधीन रहती है, और जब सम्पूर्ण देश का प्रश्न आता है, अथवा राजनैतिक विषय उपस्थित होते हैं, तो सब परस्पर मिलकर उसमें योग देती हैं।

अब इस सम्बन्ध में भारतवर्ष की स्थिति का विचार करते हैं। इस में संदेह नहीं कि अंधकार-युग में यहाँ हिन्दुओं के वर्ण-विभाग

की अवस्था बहुत अस्त-व्यस्त हो गयी, एक जाति में अनेक उपजातियाँ, और एक-एक उपजाति के अनेक छोटे-छोटे भाग बन गये। तथापि हताश होने की बात नहीं है। कई वर्षों से ब्राह्मण सभा, क्षत्री सभा, वैश्य सभा, आदि अपनी-अपनी जाति के अंतर्गत उपजातियों को एक बृहत् सूत्र में संगठित करने का उद्योग कर रही हैं, और, उन्हें सफलता भी मिल रही है।

वास्तव में भारतवर्ष में दो ही जातियाँ प्रधान हैं, आर्य और द्राविड़; इनके अतिरिक्त यहाँ कुछ ईरानी और मंगोलियन मिश्रण है।* भारतवर्ष जैसे महान, विस्तृत और प्राचीन भूखंड में इतना-सा जाति भेद कुछ भी अधिक नहीं है।

योरप अमरीका आदि के राष्ट्रों में, जो भारतवर्ष के साधारण प्रान्तों के समान हैं, जाति-भेद कहीं अधिक प्रखर है। केनेडा में अंगरेज और फ्रांसीसी अपना पुराना भेद-भाव भूले नहीं हैं। अमरीका के संयुक्त-राज्य में तो दुनियाँ भर की, विशेषतः योरप की, विविध जातियों के आदमियों ने अपना घर बनाया है, फिर भी वह राष्ट्रीयता में अपना मस्तक ऊँचा किये हुए है। स्विटज़रलैंड एक बहुत छोटा-सा देश है, फिर भी उसकी जनता में कई जातियों का समावेश है। स्वयं ग्रेट-ब्रिटेन (इंगलैंड और स्काटलैंड) एक साधारण टापू है, पर उसके निवासियोंके पूर्वज भिन्न-भिन्न जातियों के थे। दक्षिण अफ्रीका में बोअरों और अंगरेजों का युद्ध अभी कल की बात है। फिर भी कोई इन भू-भागों की राष्ट्रीयता में संदेह करने का

* अधिकतर मुसलमान भारतीय आर्यों के ही वंशज हैं। बाहर से तो बहुत ही थोड़े व्यक्ति आये थे, स्त्रियाँ तो विशेष आयी ही नहीं। पुरुषों का भी प्रायः यहाँ वालों से रक्त-सम्बन्ध हो गया।

दुस्साहस नहीं कर सकता। निदान, भारतवर्ष की जाति सम्बन्धी स्थिति कदापि असंतोषप्रद नहीं।

संस्कृति—एकता के सम्बन्ध में संस्कृति का विषय बहुत विचारणीय होता है। संस्कृति के दो रूप होते हैं, बाह्य और आन्तरिक। बाह्य संस्कृति का सम्बन्ध भाषा, खान-पान, रीति रस्म ब्याह-शादी आदि से होता है; और आन्तरिक का, धार्मिक और आध्यात्मिक विचारों से। भारतवर्ष के भील, संथाल आदि पहाड़ी अथवा जगली आदमियों को छोड़कर, जिनकी संख्या कुल देश की जनता का बहुत ही अल्प भाग है. अन्य विविध जातियों के अधिवासियों की संस्कृति में, सहस्त्रों वर्षों के पारस्परिक संसर्ग और सहवास से विलक्षण एकता आगयी है। आमदरफ़्त के साधनों की आधुनिक वृद्धि ने भी इसमें बड़ी सहायता की है। दक्षिण के द्राविड़ों ने आर्यों की वर्णाश्रम आदि प्रथाओं को स्वय आर्यों से भी अधिक अपनालिया है, और, वे अब मानों आर्य ही बन गये हैं।

कुछ व्यक्ति हिन्दू-मुसलमानों की संस्कृति की पृथक्ता पर बहुत जोर दिया करते हैं, पर उनके कथन में अतिशयोक्ति होती है, जैसा कि रीति-रस्म या रहन-सहन आदि के सम्बन्ध में किये हुए पूर्वोक्त कथन से स्पष्ट है। यह ठीक है कि आरम्भ में मुसलमानों का घनिष्ठ सम्बन्ध अरबी संस्कृति से था, और, हिन्दूओं का आर्य संस्कृति से। परन्तु मुसलमानों के यहाँ आकर बस जाने, और सैकड़ों वर्ष हिन्दुओं के साथ मिल-जुल कर रहने से इन दोनों जातियों की संस्कृतियों की एक-दूसरे पर गहरी छाप पड़ती गयी, और दोनों संस्कृतियों के मेल से एक नयी संस्कृति बनने लगी। किन्तु अंगरेजों के यहाँ आने के समय तक

संयुक्त संस्कृति की जड़ मजबूत नहीं जमी थी, अतः वह अंगरेजों की (पाश्चात्य) संस्कृति के संघर्ष को सहन न कर सकी, और, हिन्दू और मुसलमान दोनों अपने पृथक्-पृथक् आदर्शों का खोजने लग गये। फिर, अंगरेज शासकों की कूटनीति से यहाँ विभिन्नता बढ़ती गयी। अस्तु, अब न तो विशुद्ध रूप में हिन्दुओं की आर्य संस्कृति ही वापिस आ सकती है, और न मुसलमानों की अरबी संस्कृति ही। दोनों को मिलकर रहना होगा।

भारतवर्ष में सर्वसाधारण जनता तो गाँवों में रहती है, और वहाँ हिन्दुओं के त्योहार मुसलमान, और मुसलमानों के त्योहार हिन्दू, खुशी से मनाते हैं। रक्षा-बन्धन के दिन मुसलमान लड़कियाँ हिन्दुओं के पोहची बाँधती हैं। दिवाली के दिन अनेक मुसलमान भी अपने-अपने घरों पर रोशनी करते हैं। बालक बड़ी उम्र वालों को, चाहे वे किसी जाति के हों, चाचा ताऊ, या बाबा आदि कहते हैं। इस प्रकार ग्राम-जीवन हमारी एकता का सजीव प्रमाण है। और, ग्राम-निवासी हिन्दुओं और मुसलमानों की संस्कृति में विशेष अन्तर नहीं है। जो अंतर दिखायी देता है, वह प्रायः नगर-निवासियों में है, जिनकी संख्या दस फीसदी से अधिक नहीं है। कालान्तर में इनकी संस्कृति में भी बहुत कुछ समन्वय हो जायगा; और न भी हो तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। अनेक देशों में कई-कई संस्कृतियों के आदमी हैं। निदान, संस्कृति के आधार पर भारतवर्ष के राष्ट्र-निर्माण में सन्देह करना भारी भ्रम है।

अखिल बंगाल कृषक प्रजा समिति के अध्यक्ष मि० सैयद हबीबुर्रहमान का कथन है कि:—"जब मुसलमान भारत में आये तो उन्होंने इसे अपना देश मान लिया। उन्होंने एक राष्ट्र का सृजन किया और उर्दू तथा हिंदी के रूप में एक भारतीय राष्ट्रभाषा का निर्माण किया।......हिंदुओं और

मुसलमानों के संमिश्रण से एक नयी संस्कृति तथा एक नयी सभ्यता उत्पन्न हो गयी। बहुत कम ऐसी चीज होगी जो दोनों जातियों में समान रूप से न प्रचलित हो। भारत के अधिकांश मुसलमानों में वास्तव में हिंदुओं की ही हड्डियाँ हैं। राष्ट्र को जातियों के ऊपर मानना होगा। सभी जगह राष्ट्रीय हितों और अधिकारों का सामंजस्य साम्प्रदायिक हितों और अधिकारों के साथ किया गया है।"

राजनैतिक एकता—एक राज्य का होना राष्ट्रीयता के लिए बहुत उपयोगी होता है। यदि किसी भू-खंड के भिन्न-भिन्न भागों में पृथक्-पृथक् राज-शक्तियाँ हों, तो उसके निवासियों में राजनैतिक विषयों में एकता की भावना जाग्रत नहीं होती, वे प्रत्येक बात को संकीर्ण प्रान्तीय दृष्टिकोण से देखते हैं, और फलतः उनका राष्ट्र-निर्माण का मार्ग प्रशस्त नहीं होता।

प्राचीन काल में यहाँ चक्रवर्ती राज्य-पद्धति थी। चक्रवर्ती सम्राट् सर्वोपरि माना जाता था, वैसे प्रत्येक राज्य अपने-अपने क्षेत्र का आन्तरिक प्रबन्ध करने में स्वतंत्र रहता था। क्रमशः इस स्थिति में परिवर्तन हुआ। ईसा से दो-तीन शताब्दी पूर्व यहाँ कई बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित होने लगे। अब से सवा दो हजार वर्ष पूर्व अशोक के समय में, भारतवासियों ने एक विशाल भारतीय राज्य का निर्माण किया, जिसे संसार की राजनीति में एक अनुपम उदाहरण समझा जाता है। कालान्तर में सम्राट् अकबर ने इस देश को पुनः बहुत-कुछ राजनैतिक एकता प्रदान की। परन्तु अठारहवीं शताब्दी में उसके उत्तराधिकारियों की त्रुटियों के कारण, यहाँ भिन्न-भिन्न शक्तियों की प्रभुता हो गयी, और राजनैतिक अनेकता के कारण उस शताब्दी के उत्तरार्द्ध से यहाँ क्रमशः अंगरेजों के पाँव जमने लगे।

कभी-कभी बुराइयों का भी परिणाम अच्छा हो जाता है। अंगरेजों के शासन से भारतवर्ष का जो अनहित हुआ है, वह अब खुला रहस्य है, परन्तु यह भी स्वीकार किया जाना चाहिए कि उनकी अधीनता में गौण रूप से भारतवर्ष की राजनैतिक एकता बढ़ी है। देश में, रेल तार डाक आदि की व्यवस्था होने से आमदरफ़्त, सम्पर्क और पत्र-व्यवहार आदि बढ़ा।* अंगरेजी भाषा का प्रचार होने से भिन्न-भिन्न प्रान्तों के विद्वानों को एक दूसरे के विचार जानने की सुविधा होने की बात पहले कही जा चुकी है।† पुनः अंगरेजों के शासन में राजनीति के प्रयोग सर्वत्र एकसा होने लगे, दासता में सब की समानता हो गयी। समान परतंत्रता को हटाने के लिए संगठित प्रयत्न होने लगा; सब प्रान्तों तथा समस्त जातियों और श्रेणियों के आदमी अपने-अपने पारस्परिक भेदभावों को भुलाकर राजनैतिक एकता और स्वाधीनता प्राप्त करने लगे। इसका विशेष विचार आगे किया जायगा।

अन्य बातें—राष्ट्रीयता की पोषक एक बात जनता के हानि-लाभ की समानता है। परन्तु जो आदमी एक देश में रहते हों, जिनके

---

*रेलों के प्रचार में शासकों का मुख्य उद्देश्य सैनिक सुविधा तथा देश पर अपना अधिकार बनाये रखने की भावना थी। यदि अंगरेज यहाँ न आते तो भी इस जमाने में रेल आदि का प्रचार यहाँ हो जाता, जैसा कि जापान आदि देशों में हुआ है। पुनः जब रेल स्वतंत्र भारतवासियों द्वारा बनायी जाती तो उससे राष्ट्रीय हित-साधन प्रत्यक्ष और विशेष रूप से होता।

†अंगरेजी शिक्षा का मूल उद्देश्य तो सरकार को सस्ते क्लर्क आदि मिलने के अतिरिक्त यह था कि 'भारतवासियों की एक ऐसी श्रेणी तैयार हो जाय जिसके आदमी रक्त और रंग में तो भारतीय ही रहें, परन्तु रुचि, विचार, भाषा और भावों में पूर्णतया अंगरेज हों।'

धर्म, भाषा, जाति और संस्कृति आदि में बहुत-कुछ समानता या सम्मिश्रण हो गया हो, जिन का शासन एक ही पद्धति से, एक ही समुदाय द्वारा होता हो, उनके स्वार्थ तथा हानि-लाभ एक हो ही जाते हैं। अतः इस का पृथक् महत्व नहीं है।

इस प्रकार, विविध दृष्टियों से विचार करके हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि भारतवर्ष को एक देश समझना कोई भूल नहीं है। निकट भविष्य में इसे एक राष्ट्र कहना और भी अधिक सत्य होता जायगा। *क्या यह शुभ लक्षण नहीं है कि उन भद्र पुरुषों की संख्या* बराबर बढ़ती जा रही है, जो तंग-दिली को त्याग कर अपने को मरहठा, बंगाली या गुजराती, आदि पीछे कहते हैं, और पहले अपने को भारतीय समझने में ही गौरव मानते हैं। भूतकाल के अभिमान का दर्शक और गत त्रुटियों का सुधारक ऐतिहासिक साहित्य लिखा जाना प्रारम्भ हो गया है, और दीप्यमान भविष्य की आशा हम सब को एक सूत्र में बाँधती जा रही है। अब हम भारतीयता के प्रेम-बंधन में सुगठित हो, विशाल मातृभूमि की सेवा करने में ही अपना अधिकाधिक कल्याण समझा करेंगे।

भारतवर्ष की एकता; शंका-समाधान—प्रायः विदेशी अधिकारी तथा उनके अनुयायी समय-समय पर भारतवर्ष की अनेकता की घोषणा करते रहते हैं। इसमें सत्य कम, और स्वार्थ तथा राजनैतिक प्रचार विशेष होता है। भाषा, संस्कृति, जाति, धर्म आदि विविध दृष्टियों से किये हुए उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यहाँ एकता के किसी साधन की कमी नहीं है। यों थोड़ी-बहुत विभिन्नता अवश्य है, पर ऐसी विभिन्नता तो सभी देशों में होती है; और जब अनेक देशों

में इसके होते हुए भी वहाँ राष्ट्र-निर्माण का कार्य भली भाँति सम्पन्न होगया है, तो भारतवर्ष में क्यों न होगा !

इटली के साथ भारतवर्ष की कई बातों में समता है। एशिया के मान-चित्र में जैसा भारतवर्ष है, योरप के मान-चित्र में वैसा ही इटली है। दोनों ही देशों के दक्षिण भाग समुद्र की ओर जाकर शेष हो गये हैं। दोनों के शीर्ष-प्रदेश में अटल अचल गिरिवर विराट् पुरुष की भाँति विराजमान रह कर, प्रकृति की अनुपम शोभा का विकास कर रहे हैं। दोनों ही के मध्य भागों में सुन्दर स्वच्छ जल की नदियाँ कलकल नाद करती हुई बहती हैं। बिना यत्न के ही प्राप्त सौन्दर्य की गरिमा से अनायास लभ्य अतुल सम्पत्ति की महिमा से, दोनों ही विभूषित हैं। इस के अतिरिक्त, भारतवर्ष की भाँति इटली भी बहुत से छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ है। बहुत शताब्दियों तक दोनों ही देश विभिन्न आक्रमण-कारियों के पराक्रम से दुखी और पराजित हो, स्वाधीनता से वंचित रहे। दोनों ही देशों में जुदी जुदी भाषा बोलनेवाले मनुष्य रहते हैं। भारत-वासियों की भाँति इटलीवासी भी अपने प्राचीन गौरव से विच्युत हो गये थे। वे एक ही पूर्व-पुरुष से उत्पन्न, एक भ्रातृ-भाव के सूत्र में बधे, और एक ही प्रकार के गौरव से गौरवान्वित होने पर भी, एक-दूसरे को पृथक् भावापन्न विदेशी समझते थे। तब भी इटली के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त तक समवेदना संचारित होजाती है; इटली में अपूर्व जातीय भाव से एकता की पताका ऐसी लहराने लगती है, मानों कभी गिरी ही न थी।

इसी प्रकार स्विटजरलैंड और बेलजियम भी पृथक् पृथक् भाषा बोलने वाले और जुदा जुदा धर्मावलम्बी लोगों के आवास-स्थान होने पर भी, एकता के सुन्दर डोरे में बंधे हैं। भारतवर्ष में अनेक विषयों में विषमता रहने पर भी इस विषमता के अभ्यन्तर में समता का बीज भरा पड़ा है। [श्री० रामदेव जी त्रिपाठी द्वारा अनुवादित, श्री० रजनीकान्त गुप्त के 'हमारा जातीय भाव' लेख के आधार पर।]

अस्तु, यह बताया जा चुका है कि भारतवर्ष प्राचीन काल में एक

राष्ट्र रहा है, और अब गत शताब्दियों के पराधीनताजनित और अस्थायी विकारों को हटाकर यह पुनः एक शक्तिशाली राष्ट्र बनता जा रहा है, जो किसी जाति विशेष या प्रान्त विशेष का नामधारी न होगा; वरन्, मातृभूमि भारत भर से सम्बंध रखने के हेतु, भारतीय राष्ट्र के शुभ नाम से पुकारा जायगा। परन्तु हमें इसके दर्शन करने के लिए पूर्ण विश्वास और आशा बनाये रखनी चाहिए। कष्टों की परवाह न करते हुए, दृढ़ता-पूर्वक राष्ट्र निर्माण का कार्य करते रहना प्रत्येक भारत-संतान का परम पवित्र कर्त्तव्य है, इससे कदापि विमुख न होना चाहिए; सफलता निश्चित है।

चौथा परिच्छेद

राष्ट्र-बल

[जनसंख्या, स्वास्थ्य-रक्षा, और सदाचार]

संख्या हमारी राष्ट्र के उपयुक्त और यथेष्ट है।
पर शक्ति, विद्या, योग्यतादिक के बिना वह भ्रष्ट है॥

—हनुमत्प्रसाद जोशी

" यदि धन गया तो कुछ नही गया, यदि स्वास्थ्य गया तो कुछ गया, यदि सदाचार गया तो सब कुछ गया। "

—एक अंगरेजी कहावत

जनसंख्या

जनसंख्या की दृष्टि से भारतवर्ष एक महान राष्ट्र है। संसार भर में, केवल चीन को छोड़ कर अन्य कोई देश ऐसा नहीं है, जो भारत से अधिक जनसंख्या रखता हो। यद्यपि जापान, जर्मनी और इंगलैंड

आदि कुछ देशों की तुलना में, क्षेत्रफल के विचार से, यहाँ प्रति वर्गमील कम आदमी रहते हैं, पर वे देश स्वाधीन हैं और उद्योग और कला-कौशल प्रधान हैं। इसलिए वे अपना तैयार माल अपने अधीन देशों या प्रभाव-क्षेत्रों में खपाकर खाद्य पदार्थों को बहुत ऊँचे भाव से भी खरीदने में समर्थ हैं। इस प्रकार, यदि उनके यहाँ यथेष्ट उपज न हो तो उन्हें भूखे मरने की नौबत नहीं आती। इसके विपरीत, भारतवर्ष राजनैतिक और आर्थिक पराधीनता में ग्रस्त है। यहाँ के निर्धन किसान प्रायः अपनी उपज में से भी कुछ अंश धनी विदेशी व्यापारियों के हाथ बेच देने को बाध्य होते हैं, और प्रति वर्ष करोड़ों आदमी अपनी आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर पाते।

देश की उपज बढ़ाने की ओर कुछ ध्यान दिया जा रहा है, तथापि भारतवर्ष की जनसंख्या कम नहीं कही जा सकती। सन् १९४१ ई० की मनुष्य-गणना के अनुसार भारतवर्ष की (जिसमें अब बर्मा सम्मिलित नहीं है) जनसंख्या उनतालीस करोड़ है। यद्यपि यहाँ अन्य अनेक देशों की अपेक्षा मृत्यु-संख्या अधिक है, तथापि जन्म-संख्या उससे भी अधिक होने से यहाँ प्रति वर्ष, प्रति हजार औसतन ग्यारह की वृद्धि हो रही है। यदि यही क्रम जारी रहा तो सन् २००१ ई० में भारतीय जनसंख्या सत्तर करोड़ हो जाने की आशा है। क्या यह वृद्धि चिन्तनीय नहीं है ? यह ठीक है कि भारतवर्ष की वर्त्तमान दरिद्रता और दुःख का कारण यहाँ की पराधीनता भी है; तथापि उनका, जनसंख्या की अधिकता से भी घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ता है। इस सम्बन्ध में श्री० स्वामी रामतीर्थ जी के निम्नलिखित शब्दों पर प्रत्येक देश-हितैषी को गम्भीर विचार करना चाहिए।

"हे भारतवासियो! इतना तो तुम लोकसंख्या की अधिकता से गरीब हो रहे हो और आशा करते हो कि प्रेम और सहानुभूति की वृद्धि हो। तुम्हारी यह आशा वृथा है। पदार्थ-विद्या का अभ्यास करने वाले जानते हैं कि पदार्थों की आन्तरिक स्थिरता तब ही तक रह सकती है, जब तक उसके परिमाणु एक-दूसरे से इतनी दूरी पर रहें कि छोटे परिमाणु को भी अपनी नियमित परिक्रमा करने में बाधा उपस्थित न हो। अब यह विचारना चाहिए कि भारत के राष्ट्र की क्या दशा है। क्या उसके व्यक्ति बिना एक-दूसरे से टकराये हुए अपनी नियमित चाल के अनुसार चल सकते हैं? क्या वे स्वतन्त्रता से अपनी नैसर्गिक गति को चला सकते हैं? जब एक का पेट भरने के लिए दस को भूखे मरना पड़ता है तब तो राष्ट्रीय स्थिरता कायम रखने के लिए हमें शीघ्र ही कोई उपाय करना चाहिए। यदि हमने ऐसा नहीं किया तो प्रकृति अपने नियमानुसार हमारे साथ व्यवहार करेगी। ऐसी अवस्था के लिए (जैसी कि हमारी है), प्रकृति के नियम महर्षि वशिष्ठ ने बताये हैं कि मरी, दुष्काल, नाशकारक युद्ध और भूकम्प हैं। किसी समय आर्य उपनिवासियों के लिए यह बड़े सौभाग्य की बात थी कि उनके अधिक सन्तान हों, परन्तु अब वह समय गया और स्थिति बदल गयी। लोकसंख्या की अधिकता का विचार करते हुए यह ज्ञात होता है कि आज कल बड़े कुटुम्ब का होना एक प्रकार का दुर्भाग्य है। जो विचार-शून्य मनुष्य यह कहते हैं कि मरणान्तर स्वर्ग-प्राप्ति पुत्र होने पर अवलम्बित है, उनसे कहो कि ज़रा अपनी आँखें खोलकर देखें; अपने मरने के पहले ही संसार-वृद्धि के कारण तुम ने अपने घर को अर्थात् वर्त्तमान भारत को साक्षात नर्क बना रखा है।"

अन्य देशों की जन्म-संख्या जब आवश्यकता से अधिक बढ़ी तो उन्होंने अपनी उपज बढ़ाने और उद्योग-धन्धों की उन्नति करने के अतिरिक्त, देशान्तर-गमन और उपनिवेश-स्थापन का कार्य किया है।

भारतवर्ष के भी कुछ आदमी आजीविकार्थ अन्य देशों को जाते हैं, परन्तु अपनी भूमि में ही पराधीनता का जीवन व्यतीत करनेवालों को बाहर आदर-सम्मान कब मिला है ! हमारे प्रवासी भाइयों को जिन कष्टों का सामना करना पड़ा, एवं अब भी करना पड़ रहा है, उन्हें सुनकर अनेक बन्धुओं का विदेश-वास में साहसहीन हो जाना स्वाभाविक है। देशान्तरों में विदेशियों द्वारा मिलनेवाले कष्टों का वास्तविक अंत स्वराज्य प्राप्त करने पर ही होगा। अस्तु, जनसंख्या को अपरिमित रूप से न बढ़ने देने का दूसरा उपाय संयम और इन्द्रिय-निग्रह है। वे महाशय धन्य है, जो आजीवन ब्रह्मचारी रहें, देश को अपना परिवार समझें और उसी की सेवा में अपना तन, मन, धन लगावें। इस सम्बन्ध में हिन्दुओं के प्राचीन आदर्शानुसार आश्रम-धर्म के प्रचार की बड़ी आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य आश्रम पूरा करने पर ही गृहस्थ में प्रवेश किया जाय; बाल-विवाह, बहु-विवाह, वृद्ध-विवाह, अनमेल विवाह न हों। गृहस्थ में परिमित सन्तानोत्पादन हो। निर्दिष्ट आयु के पश्चात् क्रमशः वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम के धर्म का पालन किया जाय। इस से सन्तानोत्पत्ति मर्यादित रूप में होगी।*

कुछ लोगों का कथन है कि संयम और ब्रह्मचर्य आदि की बात बहुत अच्छी अवश्य है, किन्तु यह केवल उच्च विचार वालों के वास्ते है, सर्वसाधारण के लिए यह व्यावहारिक नहीं है, उन्हें कृत्रिम उपायों से संतान-निग्रह करना चाहिए। ये लोग जनता में इस प्रकार के विचारों का, अपने भाषणों तथा लेखों आदि से प्रचार कर रहे हैं।

---

*वानप्रस्थ और सन्यासियों के रूप में देश को सच्चे, त्यागी, और कष्ट-सहिष्णु स्वयंसेवक भी अधिक मिल सकेंगे।

कुछ स्थानों में संतान-निग्रह की शिक्षा देने की भी व्यवस्था हो चली है। यह मत यहाँ थोड़े समय से ही प्रचलित हुआ है, और इस पक्षवालों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है; विशेषतया नव-शिक्षितों की प्रवृत्ति इस ओर बढ़ती हुई दिखायी देती है। तथापि अधिकांश जन-समाज इन बातों को भयंकर आशंका और घृणा की दृष्टि से देखता है। वह भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति, नैतिकता और धार्मिकता के विचार से इसका विरोध करता है तथा यह भी प्रतिपादन करता है कि उन देशों में जहाँ ये उपाय विशेष रूप से काम में लाये गये हैं, समाज को बहुत क्षति उठानी पड़ी है; यहाँ तक कि वहाँ कितने ही गण्य मान्य पुरुषों ने इसका विरोध करना आरम्भ कर दिया है। निदान, जनसंख्या की अनुचित वृद्धि को रोकने के लिए पूर्वोक्त उपायों का ही अवलम्बन किया जाना चाहिए।

यह कहा जा सकता है कि स्वराज्य प्राप्त होने पर जनता की आर्थिक स्थिति सुधर जायगी, तब जनसंख्या को मर्यादा में रखने की क्या आवश्यकता होगी! निस्संदेह स्वराज्य-प्राप्ति पर लोगों को औद्योगिक उन्नति करने की विशेष सुविधाएँ होंगी और उनकी आर्थिक दशा सुधर सकेगी। परन्तु यह सोचना ठीक नहीं है कि स्वराज्य पा लेने पर हम अपनी अंधाधुन्ध बढ़ायी हुई जनसंख्या का पालन करने के लिए दूसरे देशों को अपना गुलाम या प्रभाव क्षेत्र बनावेंगे, और अन्य जातियों का इस प्रकार ह्रास अथवा विनाश करेंगे, जैसा कि आधुनिक काल के अन्य कई उन्नत राष्ट्रों ने किया है। नये-नये आविष्कारों द्वारा देश की उपज की मात्रा बढ़ाने का सदैव प्रयत्न करते रहना उचित ही है, परंतु अपना राष्ट्र-परिवार इतना बढ़ा लेना कि अन्ततः उसकी रक्षा या पालन-पोषण के लिए दूसरों को विध्वंस करना पड़े, सर्वथा निन्दनीय है।

वर्त्तमान परिस्थिति में जरूरत इस बात की है कि भारत-निवासी

अपनी मातृभूमि के योग्य नागरिक बनें; क्योंकि, जीवन संग्राम में सेनाओं की विशाल संख्या से इतनी विजय प्राप्त नहीं होगी, जितनी एक अपेक्षाकृत कम संख्या वाली, परन्तु अधिक योग्यता-सम्पन्न, सेना से हो सकती है। अतः ऐसा प्रयत्न होना चाहिए कि समाज का प्रत्येक अंग राष्ट्र के लिए अधिक-से-अधिक उपयोगी हो। जिस प्रकार घर के कार्य में छोटा-बड़ा, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध सब अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार योग दे सकते हैं, और देते हैं, उसी प्रकार राष्ट्र में भी प्रत्येक व्यक्ति-समूह को अपना कर्त्तव्य भली भाँति पालन करना चाहिए। जैसा कि हमने 'भारतीय जागृति' में कहा है, प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को यह बात आश्चर्य-जनक एवं दुखदायी प्रतीत होगी कि जनता के इतने विशाल होते हुए भी भारतवर्ष संसार में ऐसा गया-बीता है। बात यह है कि भारतीय जनता-रूपी शृंखला की विविध कड़ियों में से कई-एक बहुत कमजोर हैं:—(१) अब से कुछ वर्ष पहले तक महिलाएँ सार्वजनिक जीवन से दूर ही नहीं रहीं, वे बहुत-कुछ पुरुषों पर भार या उनके कार्य में बाधक थीं (२) अछूतों (हरिजनों) की समस्या पर हाल में ही विचार होने लगा है। (३) भिखारियों (४) जरायम-पेशा (अपराधी) कहे जाने वाले लोगों, तथा (५) वेश्याओं के विषय पर अभी तक भी विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। राष्ट्र के इन सब अंगों की उन्नति और सुधार आवश्यक है।

स्वास्थ्य-रक्षा

जन्मभूमि का उद्धार तभी होगा, जब भारत-सन्तान स्वावलम्बी, परोपकारी, साहसी और शिक्षित होगी। इसके लिए देशोन्नति के अन्यान्य साधनों में, जन-बल की वृद्धि करने वाले दो मुख्य गुणों—

स्वास्थ्य और सदाचार—की विशेष आवश्यकता है। पहले स्वास्थ्य-रक्षा विचार करते हैं।

शान्ति की स्थिति हो या युद्ध की, स्वस्थ मनुष्य ही समाज का बल और राष्ट्र की शक्ति है। इसलिए स्वास्थ्य-रक्षा की ओर यथेष्ट ध्यान रखना चाहिए। भारतवासियों के लिए यह धर्म के ही अन्तर्गत एक आवश्यक विषय है, और वे शुद्ध और अनुकूल भोजन वस्त्र, स्वच्छ वायु तथा व्यायाम का महत्व भली भांति जानते हैं। तिस पर भी उन्हें यथेष्ट सुख प्राप्त नहीं होता। इसका कारण यह है कि कुछ लोग तो शौकीनी या फैशन के कारण, परन्तु अधिकाश अपनी दरिद्रता के वश, उस जानकारी का उपयोग नहीं कर सकते। जिन अभागे भारतवासियों को दो वक्त पेट-भर रोटी ही नहीं मिलती, उन बेचारों को यह जानलेने से कुछ विशेष लाभ नहीं होता कि खुली हवा के बंगलों में रहना स्वास्थ्य के लिए हितकारी है। भारतीय जनता के स्वास्थ्य का प्रश्न बहुत कुछ आर्थिक है। अतः स्वास्थ्य-सुधार के लिए लोगों की आर्थिक दशा सुधारने की अत्यन्त आवश्यकता है।

कुछ अन्य बातों की ओर भी ध्यान दिया जाना उचित है। उदाहरणार्थ स्कूलों में विद्यार्थियों के स्वास्थ्य-सुधार के प्रश्न पर भली प्रकार विचार होना चाहिए। वर्त्तमान परिस्थिति ने जनता के हृदय में यह विश्वास जमा दिया है कि पढने वाले व्यक्ति रोगों के प्यारे बन जाते हैं। वे महाशय बड़े ही सौभाग्यशाली समझे जाते हैं जो विद्वान् होकर भी हृष्ट-पुष्ट तथा स्वस्थ बने रहें। नहीं तो, चश्माधारी बनना अब फैशन में शामिल होगया है। अनेक नवयुवक विद्यार्थी डाक्टरों और वैद्यों के 'शुभचिंतक मित्र' बने रहते हैं। यह स्थिति बडी शोचनीय

है। इसके कारणों को, जिनमें से खास-खास ये हैं—उचित भोजन न मिलना, अधिक मानसिक परिश्रम करना, व्यायाम में अरुचि, सत्संगति और धार्मिक शिक्षा का अभाव, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन न करना, छोटी उमर की विवाह-शादियाँ और गृहस्थी की चिन्ता का भार—दूर करने के लिए गत वर्षों में कुछ प्रयत्न हुआ है; किन्तु सर्वत्र यथोचित चेष्टा होने की आवश्यकता है।

इसी प्रकार अन्य भिन्न-भिन्न स्थिति के स्त्री-पुरुषों के स्वास्थ्य पर विचार हो सकता है। हमें चाहिए कि इस विषय में अपना यथेष्ट कर्त्तव्य पालन करके राष्ट्र का बल बढ़ावें। अस्तु, अब सदाचार के सम्बन्ध में विचार किया जाता है।

सदाचार

सदाचार में विविध नैतिक गुणों का समावेश होता है, यथा सत्य-प्रियता, संयम, इन्द्रिय-दमन, उदारता और दृढ़ता आदि। सदाचार-हीन व्यक्ति अपनी योग्यता का प्रायः दुरुपयोग ही करता है। वह अपनी विद्या को विवाद का, धन को मद का, और शारीरिक बल को परपीड़न का साधन बना सकता है, जबकि सदाचारी व्यक्ति इन गुणों को ज्ञान, दान और रक्षा का हेतु बनाकर देश और जाति के सुख-शांति में वृद्धि करता है। निस्सन्देह सदाचार ही मनुष्यों या समाजों को उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचाता है। यही वह शक्ति है, जिसके द्वारा कोई देश या राष्ट्र ऊँचा आदर्श रख सकता है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब राज्य की बागडोर आचार-हीन व्यक्तियों के हाथ में आ जाती है तो देश का पतन आरम्भ हो जाता है। भारत को जर्जर और वैभवहीन कर डालने वाला महाभारत

क्यों हुआ ? दुर्योधन या दुश्शासन जैसे दुश्चरित्र आदमियों के सत्ताधारी हो जाने से। मुसलमानों के सम्मुख हिन्दुओं की अन्ततः पराजय क्यों हुई ? एक ओर तो वीर पृथ्वीराज ने अपनी नवविवाहिता वधु संयुक्ता के सहवास से महलों के आनन्द में अपने राष्ट्रीय कर्त्तव्य की ओर यथेष्ट ध्यान न दिया दूसरी ओर उसके ससुर जयचन्द की ईर्षाग्नि ऐसी प्रज्वलित हो गयी कि उसने अपने देश-प्रेम को भी उसी में भस्म कर डाला। छल, कपट, देश-द्रोह और विलासता का परिणाम और क्या होना था ? भारतवर्ष में हिन्दू सम्राट् के शासन-काल की इति-श्री हो गयी। इसके विपरीत, गतवैभव हिन्दू जाति में राणा प्रताप और क्षत्रपति शिवाजी का चिरस्मरणीय नाम जीवन संचार करने वाला कैसे हो गया ? उनके अपार कष्ट-सहन और कठोर व्रतों के पालन के कारण। धन्य ! भारत माता !! तू ने अपने आपत्ति और अन्धकार-काल में भी ऐसे पुरुष-रत्नों को जन्म दिया।

अच्छा, पीछे मुसलमानों के राज्य का अन्त क्यों हुआ ? ऐयाशी और विलासिता के कारण। अन्तिम मुगल शासकों ने अपने पूर्वजों के घोर परिश्रम का फल शराब की बोतलों में नष्ट कर डाला। इनकी देखा-देखी इनके सहायक और अधीन पदाधिकारी भी खुशामदी, कायर और आराम पसन्द हो गये। स्वतन्त्रता देवी यह अपमान कब तक सहन करती ! उसने क्रमशः सारे भारत से विदा ली। कष्ट-सहिष्णु, स्वदेश-भक्त अंगरेजों की बन आयी; जो व्यक्ति बिसातखाने का सामान लेकर यहाँ चन्द रोज के मेहमान के रूप में आये थे, उन्होंने अवसर पाकर घर पर ही कब्जा कर लिया।

अस्तु, अब इसी सिलसिले में थोड़ा-सा यह भी विचार कर लें कि

इस समय अंगरेज बहादुरों की हुकूमत की नींव क्यों डाँवाडोल हो रही है। महारानी विक्टोरिया की घोषणा को 'राजनैतिक छल' समझने और उसे रद्दी कागज का टुकड़ा बना डालने से, अनेक लोभी लालची कर्मचारियों के दूषित व्यवहार से, महायुद्ध के समय प्रजा को बड़े-बड़े वचन देने और मतलब निकल जाने पर उनका पालन न करने से, अनेक स्थानों में नृशंस अत्याचारों से स्त्रियों, बालकों और बूढ़ों की भी रक्षा न करने से, भयंकर दमन दावानल से, और किसी-न-किसी बहाने अपनी सत्ता अक्षुण्ण या अटूट बनाये रखने से।

इस समय भारतवर्ष स्वतन्त्रता-प्राप्ति तथा राष्ट्रीय समस्याओं के हल करने में लगा है। इसके लिए भारतीय समाज में सदाचार के बल की परम आवश्यकता है। हम ऐसे निर्भीक हों कि मृत्यु से भी न डरें, ऐसे धर्मात्मा हों कि उच्च सिद्धान्तों के पालन करने के सम्मुख अन्य किसी बात को महत्व न दें, ऐसे संयमी हों कि दुनिया के भोग-विलास हमारा पतन न कर सकें, ऐसे निर्लोभी हों कि विदेशी अधिकारी हमें किसी भी मूल्य से न खरीद सकें। हमारा भोजन सात्विक हो, रहन-सहन साधारण हो, हमारे विचारों में पवित्रता और उदारता हो। ईर्षा द्वेष, कलह और फूट से हम अपने समाज-बल को खंड-खंड न करके दया, मेल और परोपकार से उसे बढ़ाने वाले हों। संक्षेप में हम यथेष्ट सदाचारी हों। फिर एक ब्रिटिश सिंह ही क्या, सैकड़ों हिंसक समूहों की भी हम सहज ही अवहेलना करने में समर्थ होंगे और अपनी राष्ट्रीय समस्याओं को अनायास हल कर सकेंगे।

पाँचवाँ परिच्छेद

संगठन

भारतीय ! रूप अपने को ज़रा पहिचान लो।
तुम कौन हो ? इस बात को शीघ्र सोच विचारलो ॥
कौन सी वह बात है, जिस की तुम्हारे में कमी ?
संगठन अच्छा हुआ तो फिर नहीं कुछ भी कमी ॥

—हनुमत्प्रशाद जोशी

हिन्दू किसान और मुसलमान किसान, हिन्दू मज़दूर और मुसलमान मज़दूर, हिन्दू बेकार और मुसलमान बेकार के स्वार्थों में कोई भेद नहीं है। —शुकदेवराय

जिन को हम पैरों तले गिरा कर अपमानित करते हैं, वे ही हमारे मार्ग में हमारे सम्मुख बाधा रूप में खड़े होजाते हैं, वे भारी हो कर हमको नीचे की ओर खींचते रहते हैं। —रविन्द्रनाथ ठाकुर

पिछले परिच्छेद में राष्ट्र बल का विचार किया गया, अब राष्ट्र के विविध अंगों के सगठन के सम्बन्ध में लिखा जाता है।

संगठन का आधार; श्रम—जिस राष्ट्रीय संगठन का हम स्वप्न देखते हैं; नहीं-नहीं, जो लहर, कट्टर पन्थियों का विरोध होते हुए भी, बड़े वेग से आ रही है, उसमें किसी के जन्म-गत अधिकार मान्य न होंगे। उसमें जाति या सम्प्रदाय आदि का भेद-भाव न होगा, ऊच-नीच की वर्त्तमान भावना न होगी, अस्पृश्यता जैसी सामाजिक कलंक की बात न रहेगी। वर्त्तमान अवस्था

में बहुत-से आदमी सभा या समितियाँ संगठित करके उनके द्वारा अपनी-अपनी जाति या सम्प्रदाय की उन्नति का प्रयत्न करते हैं, वे उसके लिए विशेष राजनैतिक अधिकारों या सुविधाओं की माँग करते हैं। परन्तु इसमें कोई तत्व नहीं है। किसानों के, और मजदूरों तथा बेकारों आदि के स्वार्थ समान हैं, चाहे वे किसी भी जाति या सम्प्रदाय के हों। यदि एक प्रान्त के किसी भाग में सिंचाई की व्यवस्था ठीक नहीं है, या लगान की दर बहुत अधिक है, तो उससे वहाँ के सभी किसानों को हानि होगी, चाहे वे किसान जाट हो, या गूजर, हिन्दू हो या मुसलमान। यदि किसी जगह कारखाना-कानून (फैक्टरी एक्ट) दूषित है तो उससे सभी मजदूरों के हित में समान बाधा होगी; यह नहीं होगा कि एक जाति या सम्प्रदाय के मजदूरों के हित में अधिक बाधा हो, और दूसरी जाति या सम्प्रदाय के हित में कम। इस से स्पष्ट है कि लोगों के संगठन का आधार जाति या सम्प्रदाय न होकर, पेशा और स्थान होना चाहिए।

राष्ट्र में श्रम का यथेष्ट आदर होना चाहिए, वह श्रम शारिरिक हो या मानसिक। जो व्यक्ति या व्यक्ति-समूह राष्ट्र के लिए जितना अधिक कष्ट-प्रद या असुविधाजनक श्रम करता है, उतनी ही उसे अधिक आर्थिक प्राप्ति होनी चाहिए; स्वयंसेवक होने की दशा में वह उतना ही अधिक आदर-प्रतिष्ठा का अधिकारी है। इसी प्रकार, जो व्यक्ति या व्यक्ति-समूह कुछ समाजोपयोगी कार्य नहीं करते, उन्हें समाज की ओर से सम्मानित होने का कोई अधिकार नहीं है। देश के किसी व्यक्ति को दूसरों पर भार न होना चाहिए, सब को स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करना चाहिए।

संगठन का आधार श्रम मानने, और श्रमजीवियों को ही समाज में सुख तथा आदर-प्रतिष्ठा देने, की बात उन जमींदारों, साहूकारों, पूँजीपतियों और कारखानेवालों को बहुत अप्रिय मालूम होगी, जो बिना विशेष परिश्रम किये ही, दूसरों के श्रम के सहारे, खूब सुख या विलासिता का उपभोग करते हैं; जो धनोत्पत्ति के साधनों में से भूमि और पूँजी के मालिक बने बैठे हैं, और जिन्हें विशेष राजनैतिक सत्ता भी प्राप्त है। उन्हें उपर्युक्त साम्यवाद या समाजवाद की भावना में अपनी प्रत्यक्ष क्षति दीखती है; नहीं, अपने विनाश की आशंका होती है। अतः वे इस का भरसक विरोध करते हैं, और उनके विरोध को देखकर साधारण मनुष्य यह कहने लगते हैं कि साम्यवाद की बात उठाकर श्रेणी-युद्ध की भावना क्यों जागृत की जाय, इससे तो राष्ट्र-संगठन में भयकर बाधा उपस्थित होती है। इस सम्बन्ध में, स्मरण रहे कि राष्ट्र का वास्तविक और स्थायी संगठन उस समय तक नहीं हो सकता, जब तक कि एक श्रेणी दूसरी का शोषण करती रहेगी। बलवानों और निर्बलों का एक संगठन नहीं हो सकता। सम्मिलित संगठन के लिए समता चाहिए; सब श्रेणी-भेदों का अन्त होकर, सब व्यक्तियों को अपनी उन्नति और विकास का समान अवसर मिलना चाहिए, किसी को दूसरों पर जोर-जबरदस्ती करने का अधिकार या अवसर न मिलना चाहिए।

समाज-सुधार की आवश्यकता—पुनः संगठन अच्छा होने के लिए यह आवश्यक है कि समाज-सुधार के कार्य की ओर सम्यक् ध्यान दिया जाय। इस समय प्रत्येक समाज में अनेक कुरीतियां घुसी हुई हैं; उदाहरणार्थ बाल-विवाह या बे-मेल विवाह, फजूलखर्ची,

अस्पृश्यता, अनुचित दान-धर्म, और पर्दा आदि। यद्यपि इन्हें निवारण करने के लिए विविध संस्थाएँ उद्योग कर रही हैं, और पिछले दिनों में सुधार की गति भी अच्छी खासी रही है, अभी बहुत काम होना शेष है। प्रत्येक समाज के विचारशील व्यक्तियों को चाहिए कि इन कुरीतियों के निवारण के लिए जोरदार और संगठित प्रयत्न करने में सहयोग प्रदान करें। इन विषयों पर प्रसंगानुसार अन्यत्र लिखा गया है, यहाँ हमें इनमें से कुछ बातों की ओर पाठकों का विशेष ध्यान आकर्षित कराना है।

दान-धर्म– हमारे यहाँ अनेक आदमी समाज के भक्ति-भाव अन्धश्रद्धा, या अज्ञान से अनुचित लाभ उठा कर परावलम्बी जीवन व्यतीत करते है। अनेक गाँव या नगरों, विशेषतया तीर्थों में पंडे, पुजारी, महन्त, साधु, फकीर आदि दूसरों की गाढ़ी कमाई पर मौज उड़ाते है, विलासिता का जीवन व्यतीत करते हैं। भारतीय जन-साधारण को इन लोगों से बेढब सहानुभूति है। दिन-रात मेहनत मजदूरी करने वाले व्यक्ति समाज में अप्रतिष्ठित या निम्न श्रेणी के समझे जाते है, परन्तु 'धार्मिक' बाने वाले उपर्युक्त परोपजीवियों को यथा-शक्ति भोजन-वस्त्र तथा द्रव्य प्रदान करके उनका आदर-सत्कार करना भारतीय गृहस्थ अपना परम पवित्र कर्तव्य समझते हैं।

हम दान देने के कृत्य की बुराई नहीं करते, परन्तु दान वही ठीक है, जो सुपात्रों को मिले, जिससे राष्ट्र के स्वयसेवकों का भरण-पोषण हो, देश में उपयोगी शिक्षा, साहित्य, कला-कौशल और उद्योग-धन्धों की वृद्धि हो। हमारे बन्धुओं की वर्त्तमान दान-प्रणाली से तो प्रायः परावलम्बी मुफ्तखोरों की संख्या बढ़ती है; लाखों आदमी हाथ-पर-हाथ

घरे बैठे रहते हैं और निरुद्यमी जीवन व्यतीत करते हुए दूसरों पर भार-स्वरूप होते हैं इसमें सुधार होने की आवश्यकता है।

जाति-भेद और अस्पृश्यता—राष्ट्रीयता चाहती है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को उस के गुण-कर्मों के अनुसार स्थान मिले। केवल किसी जाति-विशेष में जन्म लेने के आधार पर, किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को उच्चता का अधिकारी नहीं माना जाना चाहिए। वर्त्तमान दशा में यहाँ अनेक आदमी अशिक्षित, मलिन, और परावलम्बी रहते हुए भी 'उच्च' जाति के माने जाते हैं; इस के विपरीत, जो रात-दिन परिश्रम करके अपना निर्वाह करते हैं, तथा 'उच्च' कहे जाने वालों के सुखोपभोग में सहायक होते हैं, वे 'नीच' और कुछ दशाओं में 'अस्पृश्य' समझे जाते हैं। उन्हें उनके नागरिक अधिकार नहीं दिये जाते, और असमर्थ निर्बल तथा असहाय रहने दिया जाता है।

विदित हो कि शृंखला की मज़बूती की परीक्षा सब से कमजोर कड़ी से हुआ करती है। जहाँ उसकी शक्ति की हद हो जाती है, वहीं तक कुल जन्जीर की सामर्थ्य समझी जावेगी। राष्ट्र-संगठन में किसी खास अङ्ग की ओर उदासीनता रखते हुए कभी सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। इसी विचार से—असमर्थों पर दया या करने के विचार से न सही—स्वार्थ-बुद्धि से ही प्रेरित हो कर हमें अछूतों या हरिजनों के प्रश्न को हल करना पड़ेगा, और उन्हें मनुष्योचित अधिकार देने पड़ेंगे। हर्ष की बात है कि राष्ट्रीय आन्दोलन में अब इस विषय की ओर क्रमशः अधिक ध्यान दिया जा रहा है। महात्मा गांधी आदि के उपदेश से, तथा उससे भी बढ़कर उनके उदाहरण से, हरिजनों के उत्थान का प्रश्न

राष्ट्रीय आन्दोलन का एक आवश्यक अंग हो गया है। ब्रह्म समाज, आर्यसमाज और थियोसोफिकल सोसाइटी आदि संस्थाएँ इस कार्य में पहले से योग दे रही हैं, इसका वर्णन हमने अपनी "भारतीय जागृति" में किय है। समस्त देश प्रेमी हिन्दूओं से नम्र निवेदन है कि यथा-शक्ति दलित भाइयों के उद्धार में भाग लें। यदि वह मलिन हैं तो उन्हें सफाई की शिक्षा दें, यदि वे मूर्ख हैं तो उन्हें ज्ञान दें, वे भूखे हैं तो उनकी आजीविका की व्यवस्था करें; यह हमारा ही तो दोष है कि वे हिन्दू कहलाते हुए भी पतित अवस्था में रखे गये।

प्यारे भाइयो ! सुधार की बात सुनकर बिगड़ बैठना ठीक नहीं; तनिक शान्त-चित्त से गम्भीरता पूर्वक विचार करने की जरूरत है। अब वह समय नहीं कि इन पाँच-छः करोड़ बन्धुओं की ओर से हम बिलकुल विमुख बने रहें। हम देखते हैं कि हबशियों में से भी कितने ही योग्य नेता और पथ-प्रदर्शक निकल आये; क्या इतने शूद्रों में कुछ नर-रत्न न निकल आवेंगे? अवश्य; परन्तु उन्हें अपनी शक्तियों के विकास करने का अवसर भी तो मिले।

राष्ट्रोपयोगी संगठन—पहले कहा जा चुका है कि संगठन का आधार जन्म, जाति, या सम्प्रदाय न होकर, स्थान और पेशा होना चाहिए। इस प्रकार देश में किसानों, मजदूरों, लेखकों, अध्यापकों, डाक्टरों, वैद्यों आदि की सभाएँ संगठित होनी उचित हैं। ऐसी प्रत्येक सभा में सभी जातियों के किसान या मजदूर आदि सम्मिलित होने चाहिएँ, चाहे वे ब्राह्मण हों या वैश्य, हिन्दू हों या मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि। इन सभा समितियों कर्त्तव्य है कि राष्ट्र-हित का ध्यान रखते हुए अपने-अपने सदस्यों की योग्यता और कार्य-कुशलता बढ़ाने तथा उन्हें

अधिकतम उपयोगी बनाने में दत्तचित रहें। आगे हम दो-एक प्रकार के संगठनों का विशेष उल्लेख करते हैं, उस से यह स्पष्ट हो जायगा कि देश की अन्य सभा-समितियों को अपना कार्य-क्रम कैसा रखना चाहिए, तथा उन के वास्ते कैसी बातों का विचार रखना अत्यन्त आवश्यक है।

किसानों का संगठन— भारतवर्ष की जनता अधिकांश में कृषक-जनता है। जैसा कि हमने 'भारतीय जागृति' में कहा है, गांव-गांव में किसानों की एक पचायत, सभा या संघ स्थापित होकर, उसे स्थानीय परिस्थिति के अनुसार अपने क्षेत्र के किसानों के हित-साधन में लगना चाहिए, और, यथा-सम्भव दूसरे क्षेत्रों की इस प्रकार की सस्थाओं से सहयोग करना चाहिए। इसका उद्देश्य किसानों के न्यायोचित अधिकारों की रक्षा करना, और उनकी विविध प्रकार से उन्नति करना, होना चाहिए। यद्यपि विशाल कृषक जनता को देखते हुए, अभी किसान-सभाएँ बहुत कम हैं, हाल में इनकी आशातीत वृद्धि हुई है। हाँ, इनके अभी और भी बढ़ने और सगठित होने की आवश्यकता है। परन्तु स्मरण रहे, इन सब का उद्देश्य देश को सुखी और स्वतंत्र करना है, इसलिए हमारा आन्दोलन किसी प्रकार कांग्रेस जैसी सस्था के कार्य में बाधक न होना चाहिए, जो उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति का महान उद्योग कर रही है, और उसमें उत्तरोत्तर सफलता भी पा रही है।

मजदूरों का संगठन—मजदूरों का ऐसा सगठन होना उचित ही है, जो मजदूरी की दर, और घंटे तथा मजदूरों की अन्य सुविधाओं की उचित व्यवस्था करने का प्रयत्न करे। ऐसे संगठन से

प्रत्येक राष्ट्र-हितैषी की सहानुभूति होगी। परन्तु यह भी तो आवश्यक है कि मजदूर देश-हित का पूर्ण ध्यान रखें, राष्ट्र सभा के झंडे के नीचे काम करें, और उसकी शक्ति को बढ़ाते रहें। आज-दिन देश में सामाजिक पुनर्गठन की आवश्यकता अधिकाधिक अनुभव की जा रही है, और मजदूरों के इस दिशा में किये गये प्रयत्न अभिनन्दनीय हैं, परन्तु वे व्यावहारिक राजनीति का विचार रखें और साम्राज्यवाद का सामना करने के लिए संयुक्त मोर्चे की नीति को सफल करने में सहायक हों।

महिलाओं का संगठन—स्त्रियों की उन्नति के लिए उन का भी संगठित होना उचित ही है; इसलिए स्थान-स्थान पर महिला-सभाएँ स्थापित होकर उनका उत्तरोत्तर बड़े संगठन का अङ्ग बनना उपयोगी है। हाँ, उनके भी किसी सङ्गठन का आधार जाति-गत या साम्प्रदायिक न होना चाहिए। महिलाओं की समस्याएँ सभी जातियों में न्यूनाधिक समान हैं, और उन्हें हल करने के लिए सम्मिलित उद्योग होना चाहिए। लड़कियों को उत्तम गृहिणी पद के योग्य बनाने की सर्वत्र बहुत आवश्यकता है। उनकी शिक्षा में उन विषयों की व्याव-हारिक शिक्षा का क्रम भी रहना चाहिए, जिनसे उन्हें दिन-रात काम पड़ता है, यथा गृह-प्रबन्ध, आरोग्यता, रोगियों का सेवा, चिकित्सा, पाक-शास्त्र, मातृ-विद्या, अध्यापन, और संतति-पालन, आदि। इस शिक्षा की व्यवस्था हो जाने से, यह लाभ भी होगा कि अनाथ या असहाय हो जाने की दशा में, स्त्रियाँ दूसरों के आश्रित न रहकर स्वयं अपना निर्वाह करने योग्य हो जायँगी। इसके अतिरिक्त, जिन माननीय

महिलाओं के मन में लोक-सेवा के भाव जाग्रत हो गये हैं, वे अपनी उन अभिलाषाओं को पूर्ण कर सकेंगी।

अन्य देशों के साहित्य में वहाँ की महिलाओं का बड़ा भाग है। हमारे यहाँ अभी शिक्षा की बहुत कमी है। उद्योग करने पर भारतीय स्त्रियाँ भी अपनी विदेशी बहनों की सी योग्यता प्राप्त करने में समर्थ हो सकती हैं। उनमें मनुष्य जाति की मानसिक स्थिति तथा रुचि पहिचानने की स्वाभाविक शक्ति है, और वे अपनी बुद्धि, कौशल, वाक्‌चातुरी और रसज्ञता के कारण अनेक नीरस विषयों को मीठा और सरस बना सकती हैं। एक साहित्य ही क्या, स्त्रियाँ अनेक प्रकार से देश-सेवा कर सकती हैं। ऐसे कार्य तो विशेषतया स्त्री-समाज के ही करने योग्य प्रतीत होते हैं, जिन में कोमलता, मधुरता, कल्पना आदि गुणों की आवश्यकता हो, उदाहरणतया बीमारों की सेवाशुश्रूषा करना, दुखियों को दिलासा दिलाना, धर्म के प्यासों को उपदेशामृत पान कराना, आदि। स्त्रियों के सङ्गठन का उद्देश्य उनमें इन गुणों की वृद्धि करना, होना चाहिए।

नवयुवकों का सङ्गठन—इसी प्रकार नवयुवकों का सङ्गठन भी जातिगत या साम्प्रदायिक न होकर कुछ विशेष गुणों की वृद्धि के लिए, और राष्ट्रीयता के आधार पर होना चाहिए। मिश्र, टर्की और जापान आदि देशों ने विगत वर्षों में जो उन्नति की है, वह बहुत-कुछ उनके नवयुवकों द्वारा हुई है। भारतवर्ष की भी स्थायी उन्नति होने की आशा तभी सफलीभूत होगी, जब उसे जारी रखने के लिए देश के भावी नेता, अर्थात् नवयुवक तैयार हों। देश-सेवा का क्षेत्र ऐसा विस्तृत है कि प्रत्येक व्यक्ति या समूह को उस में अपनी रुचि या

सामर्थ्यानुसार कुछ-न-कुछ भाग लेने का अवसर मिल सकता है। युवकों को चाहिए कि बालचर (स्काउट्स) या सेवा-समितियों के सदस्य बनकर सेवा-कार्य की शिक्षा प्राप्त करें। हमें अपना उद्देश्य सदैव ऊँचा रखना चाहिए। हम स्मरण रक्खें कि लोकमान्य तिलक, जवाहरलाल नेहरू, और महात्मा गांधी भी पहले हमारे ही जैसे थे। युवावस्था में इन्होंने सङ्गठन और सेवा करना सीखा। यदि चाहें, तो हम भी यह बात सीख सकते हैं।

विशेष वक्तव्य—हमने ऊपर कुछ समूहों के सङ्गठन के सम्बन्ध में लिखा है। इसी प्रकार अन्य समुदायों को भारतीय राष्ट्र की अधिकतम सेवा करने के लिए ही अपना-अपना सङ्गठन करना चाहिए। इसमें साम्प्रदायिकता का भाव न होना चाहिए। प्रत्येक सङ्गठन के नियम सुनिर्धारित हों; वे ऐसे हों, जो प्रत्येक जाति या सम्प्रदाय के लिए समान हों। जहाँ विचार-पूर्ण और उदार नियम या व्यवस्था नहीं, वहा सङ्गठन ही क्या! जिन सभा संस्थाओं का काम केवल कुछ मौखिक कार्य करके, भाषणों या लेखों द्वारा जाति-गत या साम्प्रदायिक क्षुद्र विचारों का प्रचार करना तथा पारस्पारिक कलह बढाना होता है, वे सङ्गठन नहीं, सङ्गठन के नाम पर कलक हैं। संगठन वही है, जो सत्य और न्याय पर अवलम्बित हो जिसका मूल मंत्र प्रेम और सेवा हो, जो हमारे जीवन का विकास करे, और हमें अपने अन्य बन्धुओं के लिए अधिकाधिक उपयोगी बनाये।

छठा परिच्छेद

साम्प्रदायिकता

मज़हब नहीं सिखाता, आपस में बैर रखना।
हिन्दी हैं हम, वतन है हिन्दुस्तां हमारा॥

—'इकबाल'

हिन्दू का राम, मुसलमान का खुदा, है सिफत एक और नाम जुदा।
हो दूर हिमाकत का परदा, हिलमिल के रहो आपस में सदा॥

—सोख्ता

साम्प्रदायिक समस्या का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है, यह अधिकांश में आर्थिक, राजनैतिक और वैयक्तिक समस्या कही जा सकती है।

प्राक्कथन—किसी देश में विविध सम्प्रदायों का होना बुरा नहीं, परन्तु सामाजिक जीवन में पदे-पदे अपनी साम्प्रदायिकता का बेसुरा राग अलापना राष्ट्रीयता को खंडित करना और राजनैतिक प्रगति को रोकना अनिष्टकारी है। भारतवर्ष में कई धर्मों के आदमी रहते हैं। कुछ जैन, सिक्ख, और बौद्ध अपने आपको हिन्दुओं से पृथक् मानते हैं; बहुत-से मुसलमान अपने लिए, मुसलमान होने के कारण, विशेष राजनैतिक अधिकार चाहते हैं। इसी प्रकार कुछ योरपियन आदि का भी ऐसा ही दावा होता है। यह संतोष की बात है कि पारसियों ने,

और पिछले दिनों ईसाइयों और एँग्लो-इण्डियनों ने अपने आत्म-विश्वास का परिचय दिया है, और ये अल्प-संख्यक होने के आधार पर, किसी विशेष संरक्षण की माँग नहीं करते। अस्तु, यहाँ विविध सम्प्रदायों के कारण, साम्प्रदायिक समस्या ने बड़ा जटिल स्वरूप धारण कर रखा है।

साम्प्रदायिकता का मूल; अज्ञान या स्वार्थ—वास्तव में 'साम्प्रदायिक' कही जाने वाली समस्याओं में कोई तत्व नहीं, ये लोगों के अज्ञान या स्वार्थ के कारण हैं। जब लोगों के ध्यान में यह बात अच्छी तरह आजायगी कि एक देश या राष्ट्र में रहनेवालों के स्वार्थ तथा हित समान होते हैं, तो साम्प्रदायिकता का सर्वथा लोप हो जायगा। कौन नहीं जानता कि देश में अकाल, बाढ़, महामारी या मँहगी का आक्रमण ब्राह्मण-अब्राह्मण आदि हिन्दुओं की विभिन्नता, अथवा हिन्दुओं और मुसलमानों के भेद को नहीं देखता; पराधीनता, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद हम सब का ही शोषण कर रहे हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य और आजीविका की हम सब को समान चिन्ता है।

साम्प्रदायिक नेता इन बातों को भुला कर समय-बे-समय पृथक्ता-सूचक बातें कहा करते हैं। उनका उद्देश्य यह रहता है कि उन्हें अपने-अपने सम्प्रदाय वालों से जाति-हितैषिता या धर्म-प्रेम की सनद मिले; सम्प्रदाय वाले उनके लिए सरकारी नौकरी, कौंसिलों की मेम्बरी अथवा अन्य सामाजिक मान-प्रतिष्ठा दिलाने में सहायक हों। अन्यथा, यह स्पष्ट है कि इस युग की मुख्य समस्या रोटी की समस्या है। जहाँ पैसे का मामला आया, चोटी और दाढ़ी का भेद नहीं रहता, पंडित और मौलवी सब एक हो जाते हैं। सूद की दर घटाने या लगान

कम करने का विरोध सब साहूकार और जमींदार करते हैं, चाहे वे हिन्दू हों, या मुसलमान, सिक्ख या ईसाई आदि।

हिन्दुओं में साम्प्रदायिकता—भारतवर्ष में साम्प्रदायिकता विशेषतया मुसलमानों में है, पर हिन्दू भी इस रोग से मुक्त होने का अभिमान नहीं कर सकते। यह ठीक है कि जब हिन्दू-मुसलमान आदि कोई हिन्दुओं और अ-हिन्दुओं का प्रश्न उपस्थित होता है तो हिन्दू प्रायः अपनी फूट के भावों को दबा लेते हैं, परन्तु जहाँ हिन्दू-अहिन्दु का ही मामला होता है तो प्रायः, उनमें भी राष्ट्रीयता की कमी का खेदजनक परिचय मिलता है। बहुधा वे यह कहते सुने जाते हैं कि सरकार के अमुक विभाग में अमुक जाति के आदमी भरे हुए हैं, और अमुक जाति वालों को बहुत कम स्थान दिये गये हैं। हमारी म्युनिस-पैलटियों और जिला-बोर्डों में कहीं वैश्य और क्षत्रिय की बात आती है, कहीं ब्राह्मण और कायस्थ आदि की। निर्वाचनों के समय हमारी कड़ी परीक्षा होती है। ऐसे उम्मेदवार या उनके एजन्ट बहुत कम होते हैं, जिन्हें अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए जातिगत या साम्प्रदायिक भावों के उभारने में कुछ संकोच होता हो। उस समय राष्ट्रीयता का बाना उतार कर फैंक दिया जाता है, और मतदाताओं से निर्लज्जता-पूर्वक सम्प्रदाय, जाति या बिरादरी विशेष के नाम पर अपील की जाती है। इस से, भोली भाली जनता सहज ही बहक जाती है। प्रजातन्त्र शासन की स्थापना और सञ्चालन के लिए आवश्यक है कि आदमी अपने आप को क्षुद्र व्यक्तिगत या साम्प्रदायिक भावों से अलिप्त रखें, और सार्वजनिक विषयों पर सामूहिक हित की दृष्टि से, राष्ट्रीय दृष्टि-कोण से, विचार करें।

हिन्दू-मुसलिम प्रश्न—भारतवर्ष में हिन्दू और मुसलमान एक सहस्र वर्ष से साथ-साथ रहते आये हैं। कुछ क्षुद्र अपवादों को छोड़ कर इनका परस्पर सम्बन्ध बहुत प्रेम-पूर्ण रहा है। वास्तव में अङ्गरेजों के आने के पूर्व यहाँ हिन्दू-मुसलिम समस्या आज-कल की भी कभी नहीं रही। अपने आधुनिक रूप में यह निश्चित रूप से ब्रिटिश सरकार की देन है। उसने इस देश में अपनी बुनियाद मजबूत बनाने के लिए इस समस्या को उकसाया और भड़काया है। पृथक् निर्वाचन, विशेष प्रतिनिधित्व और साम्प्रदायिक निर्णय का रहस्य इसी बात में है। इस विषय में आगे विचार किया जायगा। वास्तव में मुसलमान हिन्दुओं से इतनी दूर नहीं हैं, जितना कि समझा जाता है। अधिकांश में वे इसी देश के रहने वाले हैं, यहाँ की ही नस्ल और मिट्टी से उनका जन्म हुआ, यहीं के अन्न-जल और वायु से उनका पालन-पोषण हुआ, और होता है। यहाँ ही उन्हें अपना अन्तिम समय बिताना होगा। हिन्दुओं की भीत से उनकी भीत, तथा खेत से खेत लगा हुआ है, चोली-दामन का साथ है। इस प्रकार भारत के ही हित में उनका हित, तथा इस देश के अहित में उनका भी अहित है। यद्यपि उनके कुछ तीर्थ भारत की सीमा से बाहर हैं, और उनका कुछ अन्य देशों के निवासियों से धर्म-सम्बन्ध है, यह स्पष्ट है कि उन्हें बाहर से किसी विशेष सहायता की आशा न करनी चाहिए। दुःख हो, सुख हो, हिन्दू ही उनके काम आयेंगे।

इसलाम धर्म निस्सन्देह अरब से आया तथा कुछ मुसलमान (जिनकी संख्या दाल में नमक के समान भी होनी कठिन है) उन आक्रमणकारियों के वंशज हैं, जिन्होंने पश्चिमोत्तर सीमा से यहाँ प्रवेश

किया। परन्तु शेष सब मुसलमान इसी देश के निवासियों में से हैं। ये हमारी नस्ल और हमारे रक्त के बराबर के हिस्सेदार हैं। गत शताब्दियों में किसी प्रलोभन से, 'उच्च' जाति वालों के दुर्व्यवहार से, अथवा किसी अन्य मजबूरी से, कुछ हिन्दुओं ने अपना धर्म छोड़ कर इसलाम धर्म ग्रहण कर लिया था। भारतवर्ष के वर्त्तमान मुसलमानों में से अधिकांश उनके ही वंशज हैं। राजपूताना और मध्य-प्रदेश आदि भागों की स्थिति विचारने से हिन्दू मुसलमानों के परस्पर प्रेम का आभास अब भी भली भांति मिल सकता है। वहाँ मुसलमानों के बहुत-से रिवाज हिन्दुओं से मिलते-जुलते हैं। विवाह तथा मृत्यु सम्बन्धी रीति-रस्म एकसी होती हैं। वे हिन्दुओं के ही देवी-देवताओं को पूजते हैं, ज्योतिषियों की ओर अभिरुचि रखते हैं, गा ब्राह्मण का अब तक बहुत मान करते हैं, और वे हर प्रकार हिन्दुओं से मिले-जुले रहते हैं।

गोहत्या और बाजा—साधारणतया हिन्दू-मुस्लिम विरोध गोहत्या तथा बाजे के झगड़े के रूप में सामने आता है। वास्तव में ये बातें तो विरोध या वैमनस्य के बाहरी लक्षण मात्र हैं। मूल विकार है आन्तरिक अविश्वास, जो मुसलमानों के हृदय में हिन्दुओं के प्रति है—चाहे यह अविश्वास अदूरदर्शी और स्वार्थी नेताओं ने पैदा किया और बढ़ाया है, और चाहे अधिकारियों ने। तथापि गोवध और बाजे के सम्बन्ध में कुछ विचार कर लेना अच्छा है। गाय की कुर्बानी मुसलमानों के लिए अनिवार्य नहीं है; यदि यह न की जाय तो मुसलमानी में कुछ फ़र्क नहीं आता। अरब, मिश्र, मराको, टर्की व ईरान प्रभृति देशों में गाय की कुर्बानी नहीं की जाती। भारत के मुसलमान भी यदि अन्य पशु से काम ले लिया करें तो मेल के रास्ते से एक बड़ी रुकावट दूर हो जावे।

मुसलमानों भाइयों को यह समझ लेना चाहिए कि भारतवर्ष में कृषि-प्रधानता के कारण बैलों का आर्थिक महत्व बहुत है, और गोहत्या से सभी को हानि है। पुनः जब गौओं की कमी और फल-स्वरूप दू- घी की कमी और मँहगाई होती है तो हिन्दू और मुसलमान सभी को कष्ट उठाना है। इस प्रकार मुसलमानों को स्वयं अपने हित के लिए भी गो-रक्षा का विचार करना चाहिए और हिन्दुओं से मिलकर ऐसा प्रयत्न करना पड़ता चाहिए, जिससे इस देश में ईसाइयों और विशेषतया अगरेजी सेना के लिए होनेवाला अपरिमित देश-घातक गोवध बन्द हो, और देश का कल्याण हो। प्रायः मुसलमानों से अपील की जाती है कि गाय को हिन्दू माता के समान पूज्य मानते हैं, इसलिए गोहत्या नहीं की जानी चाहिए; ऐसी बात का साम्प्रदायिक मुसलमानों पर यथेष्ट प्रभाव नहीं हुआ। उनके लिए हमें गो के प्रश्न को धार्मिक स्वरूप न दे, आर्थिक या स्वास्थ आदि की दृष्टि से रखना चाहिए। और, वास्तव में यह प्रश्न है भी मुख्यतया आर्थिक ही। मौलाना मुहम्मदअली ने कोकोनाडा कांग्रेस में सभापति-पद से भाषण देते हुए कहा था, 'हिन्दुस्तान के वे मुसलमान जो महँगा भेड़ बकरी का माँस खरीद सकते हैं, गो-मास का बहुत कम प्रयोग करते हैं, किंतु निर्धन नागरिक मुसलमानों के लिए तो यह मुख्य भोजन है।' इस प्रकार, विचार करें तो गोरक्षा का मुख्य उपाय यह है कि गौओं की नस्ल सुधारी जाय, और उनका दूध बढ़ाया जाय, जिससे वे अधिक उपयोगी और कीमती हों, उन्हें मारने में नफा न होकर बराबर नुकसान हो।

अब बाजे की बात लीजिए। बहुधा हिन्दुओं के विवाह-शादियों या या त्योहारों और उत्सवों के अवसर पर मुसलमान बाजे से अपनी 'नमाज़

में ख़लल' (प्रार्थना में बाधा) पड़ने का बहाना लेकर झगड़ा टंटा कर बैठते हैं। परन्तु जब स्वयं मुसलमान भाई मोहर्रम आदि के उपलक्ष्य में खूब धूम-धाम करते हैं तो दूसरे मुसलमान कुछ आपत्ति नहीं करते। इसी प्रकार, जब कि अनेक मसजिदें सड़क के किनारे हैं तो इक्के, तांगे, मोटर, ट्राम आदि का शोरगुल हर समय उन मसजिदों में पहुँचेगा ही, उसे किसी प्रकार रोका नहीं जा सकता। जो भाई पूजा-प्रार्थना बहुत ही शान्ति पूर्वक करना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि अपने मन्दिर मसजिद बस्ती से बाहर एकान्त स्थानों में बनावें। अस्तु, आवश्यकता है कि संकीर्णता को त्यागकर हम लोग कुछ विशाल-हृदय बनें, और इन तुच्छ बातों पर झगड़ा न किया करें। वरन् हम तो मुसलमानों से यह कहेंगे कि अपने पड़ोसी हिन्दू भाइयों के विवाह-शादियों और त्योहारों में किसी प्रकार की बाधा डालने के स्थान में उन्हें स्वयं खुशी मनानी चाहिए। और, इसी प्रकार का परामर्श हम हिंदुओं को भी देना उचित समझते हैं।

विचारशील मुसलमानों का मत; अन्य देशों की बात—गोवध और बाजे आदि विषय में विचारशील मुसलमानों का क्या मत है, तथा अन्य मुस्लिम राज्यों की स्थिति क्या है, इस पर आगे दिये हुए उद्धरणों से अच्छा प्रकाश पड़ेगा। मौलवी लियाकत हुसेन नागरिकों के समान अधिकारों का समर्थन करते हैं। आप का कथन है, "हर एक मनुष्य को आम रास्ते को उपयोग में लाने का हक़ है। हर कोई आम-रास्तों पर सजावट और बाजे गाजे के साथ निकलने का हक़दार है। हम मुसलमानों को मसजिद के पास भी, उनको रोकने का हक़ नहीं है। अन्य सब मुस्लिम देशों में —अरब, परशिया आदि में -बाजा सार्वजनिक मनोरंजन की चीज़ है। वहाँ सार्वजनिक जलूस बाजे के साथ

निकाले जाते हैं; फिर, हिन्दुस्तान में ही इतना हल्ला क्यों मचाया जाता है !"

मौलवी कुतबुद्दीन अहमद (भूत पूर्व मंत्री, बंगाल प्रान्तीय मुसलिम लीग) ने तो गोहत्या और बाजे के प्रश्न को सर्वथा स्वार्थी लोगोंका काम बताते हुए अन्य देशों का, तथा मध्यकालीन भारत का, सुन्दर अनुकरणीय दृष्टान्त उपस्थित किया है। आपका कथन है, "मेरा नम्र निवेदन है कि मसजिद के सामने अन्य धर्म वालों के बाजे के प्रश्न को धार्मिक रूप नहीं देना चाहिए। हम लोगों के पैगम्बर साहब ईद के दिनों में मसजिद में बाजा बजाने की अनुमति दिया करते थे; और हजरत आयशा को बाजा सुनने का अनुरोध करते थे। मक्का में महमल जुलूस सर्वदा मिश्र देश के बैंड के साथ मसजिद के सामने से निकलता था। मुसलमानी राजत्व-काल में दिल्ली की जामा मसजिद के सामने ही रामलीला होती थी, और शाही खानदान के लोग मसजिद में उपस्थित होकर लीला के आम नेताओं को पुष्पमाला पहिनाया करते थे। कलकत्ते में भी मुसलमानों की बारात बाजे-गाजे के साथ उस मकान से निकला करती थी, जिसकी चार दिवारी के भीतर मसजिद थी। अभी भी मुसलमानों के कुछ अखाड़े बाजे के साथ निकलते हैं, और सभी अखाड़े मौला अली दरगाह के सामने, जिसके पास ही मसजिद है, घटों बाजा बजाते हैं, और कोई आपत्ति नहीं करता। अतएव मेरे विचार में इस प्रश्न का शरियत के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है, और कुछ स्वार्थी लोगों ने गोहत्या का पल्ला बराबर रखने के लिए ही अपनी समाज के अशिक्षित मनुष्यों को भड़काने का आन्दोलन खड़ा किया है। कुछ भाड़े के मौलवी सर्वसाधारण को समझा रहे हैं कि बाजे का प्रश्न धार्मिक है, और इससे धर्म संकट में पड़ता है। वे इस खिलवाड़ को इसी लिए जारी रखना चाहते हैं, जिस में उन की थैली भरे।"

अल्पसंख्यकों की समस्या; अन्य देशों में इसका हल—भारतवर्ष में विविध सम्प्रदायों का होना कुछ नयी बात नहीं है, यह

सहस्त्रों वर्ष से है; परन्तु अल्पसंख्यकों की समस्या आधुनिक ही है; इसकी उत्पत्ति और वृद्धि अंगरेजों के समय में, और उनकी सहायता तथा कूटनीति से ही हुई है। यह उनके लिए हमको पराधीन रखने में सहायक होती है। वास्तव में अल्पसंख्यकों की समस्या के नाम पर जो आन्दोलन यहाँ किया जाता है, उससे किसी सम्प्रदाय वालों का विशेष हित-साधन नहीं होता। कल्पना करो कि किसी सम्प्रदाय के निर्वाचक कुछ अधिक हो गये, या उसके आदमियों के लिए व्यवस्थापक सभाओं में कुछ स्थान सुरक्षित कर दिये गये, या उन्हें कुछ सरकारी नौकरी या प्रतिष्ठा अधिक मिल गयी तो यह बात मुट्ठी-भर लोगों तक ही परिमित रहेगी; उस सम्प्रदाय के लाखों-करोड़ों आदमियों की दशा इससे न सुधर पायेगी।* इसके विपरीत, यह सम्भव है कि वे इससे अपनी योग्यता बढ़ाने के लिए कुछ उदासीन हो जायँ, और इस प्रकार अपनी उन्नति का मार्ग अवरुद्ध करलें। इसके अतिरिक्त, इससे अन्य सम्प्रदायों का अल्पसंख्यकों से द्वेष बढ़ने और सहानुभूति घटने की भी आशंका होती है।

भारतवर्ष में अल्पसंख्यकता का विचार साम्प्रदायिक भेद के आधार पर किया जाता है; अन्य देशों में ऐसा नहीं किया जाता, वहाँ जाति-भेद के आधार पर ही किसी समुदाय को अल्पसंख्यक माना जाता है। उदाहरणवत् जेकोस्लेविया में जर्मन, पोल और हंगरियन अल्पसंख्यक थे, तो जाति-भेद के विचार से, न कि धार्मिक या साम्प्रदायिक। अच्छा, विशेष अधिकार दिये जाने की दृष्टि से कैसे

* यदि सरकारी नौकरियों का वेतन बहुत साधारण हो, और मानप्रतिष्ठा-सूचक उपाधियाँ केवल उन्हीं लोगों को मिलें जो विशेष समाज-सेवा करें, जैसी कि कांग्रेस की नीति है, तो साम्प्रदायिकता का यह कारण स्वयं दूर हो जाय।

समुदाय को अल्पसंख्यक समझना चाहिए ? पोलैंड के प्रजातन्त्र राष्ट्र में अल्पसंख्यक समाज वह समझा जाता है, जिसकी संख्या प्रति सैकड़ा २५ हो। जेकोस्लेविया म यह परिमाण सैकड़ा २३ और हंगरी में सैकड़ा २० रखा गया है। इस प्रकार योरप में अल्पसंख्यक समुदाय वह माना जाता है जिसकी कम-से-कम संख्या प्रति सैकड़ा २० हो। और इन अल्पसंख्यकों को विशेषाधिकार किस बात में मिलता है ? राष्ट्र-संघ ने विविध राष्ट्रों की सम्मति से जो नियम निर्धारित किये हैं, उनमें तीन बातें मुख्य मानी गयी हैं। (१) राष्ट्रीयता एक तथा अखंड होनी चाहिए; जिस देश में जिन लोगों की संख्या अधिक है, उस देश की राष्ट्रीयता उन्हीं लोगों की राष्ट्रीयता मानी जानी चाहिए। (२) राज्य-शासन अविभक्त पद्धति से होना चाहिए, उसमें किसी प्रकार का विशेष प्रतिनिधित्व न होना चाहिए। (३) अल्पसंख्यकों की जो रक्षा हो वह केवल उनके (क) धर्म, (ख) भाषा, और (ग) संस्कृति के ही सम्बन्ध में होनी चाहिए। इन सिद्धान्तों को संसार के अनेक राज्यों के सूत्रधारों ने अपने यहाँ कार्य-रूप में परिणत कर रखा है।

उपर्युक्त विचार से भारतवर्ष में मुसलमान सम्पूर्ण देश के सम्बन्ध में ही अल्पसंख्यक माने जा सकते हैं, जहाँ उन की संख्या फी सैकड़ा २५ है। प्रान्तों में से किसी में भी उन्हें अल्प-संख्यक नहीं माना जा सकता। बंगाल और पंजाब में वे बहुसंख्यक है, हिन्दू अल्पसंख्यक हैं। संयुक्तप्रान्त, बिहार आदि में जहाँ हिन्दू बहुसंख्यक हैं, वहाँ मुसलमानों की संख्या बहुत ही अल्प है, प्रति सैकड़ा २० भी नहीं। इसी प्रकार मुसलमानों की, अल्पसंख्यक होने के आधार पर, विशेष

अधिकारों की माँग किसी प्रान्त में उचित नहीं ठहरती; केवल अखिल भारतवर्ष के ही सम्बन्ध में उन्हें विशेष अधिकार मिल सकता है, और वह भी धर्म, भाषा और संस्कृति की रचना के सम्बन्ध में।* उन्हें किसी प्रकार की राजनैतिक पृथक्ता का अधिकार नहीं मिल सकता, जैसे पृथक् निर्वाचन, विशेष प्रतिनिधित्व, सरकारी नौकरियों की संख्या निर्दिष्ट करना, या प्रान्तों का बँटवारा आदि। इसी प्रकार अन्य सम्प्रदायों के सम्बन्ध में विचार किया जा सकता है।

भारतवर्ष में पृथक् चुनाव और विशेष प्रतिनिधित्व—कुछ कूटनैतिक अधिकारियों के इशारे पर अनुदार और महत्वाकांक्षी मुसलमान नेताओं द्वारा यहाँ पृथक् चुनाव और विशेष प्रतिनिधित्व-रूपी विष-वृक्षों का बीज बोया गया। उन्होंने समझौता-प्रेमी हिन्दुओं द्वारा अपना प्रतिनिधित्व-अधिकार बढ़वा लिया। लखनऊ में मुसलिम लीग और कांग्रेस ने मिल कर जो भावी शासन की योजना बनायी, उस की बहुत-सी उपयोगी बातों की अवहेलना कर के ब्रिटिश सरकार ने उसकी सब से कमज़ोर कड़ी साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को अपना लिया, और उसे १९१९ के सुधारों में शामिल कर दिया। फिर तो अदूरदर्शी मुसलमानों की इस विषय की माँग बढ़ती ही गयी। अब तो कई स्थानों में वे सरकारी नौकरियों और पदों को जाति-गत आधार पर बँटवाना चाहते हैं। दुख की बात है कि अंगरेज शासक उनकी इस राष्ट्र-घातक माँग को उत्तेजना देते रहते हैं। सन् १९३५ ई० के शासन-विधान बनाये जाने के प्रसंग में ब्रिटिश 'प्रधान मंत्री ने

* कांग्रेस ने, नागरिकों के मूल अधिकारों में, यह मान्य किया है। भाषा के सम्बन्ध में विशेष विचार अन्यत्र किया गया है।

निर्वाचन सम्बन्धी जो साम्प्रदायिक निर्णय दिया उसके अनुसार भारतीय मतदाता अनेक श्रेणियों में विभक्त कर दिये गये हैं। क्या यह स्वराज्य के मार्ग में जान-बूझकर ऐसी बाधाएँ उपस्थित करना नहीं है, जिन्हें दूर करने में राष्ट्र की बहुत शक्ति और समय का अपव्यय होगा? इस सम्बन्ध में सविस्तर विचार हमारी 'निर्वाचन पद्धति' पुस्तक में किया गया है।

शासन-कार्य में साम्प्रदायिकता—शासन सम्बन्धी विषयों में साम्प्रदायिकता का विचार रखा जाना सर्वथा निराधार और अनिष्टकारी है। वास्तव में एक-एक प्रान्त के सब आदमियों के स्वार्थ और हितों में समानता होती है, चाहे वे किसी भी धर्म या सम्प्रदाय के क्यों न हों। उदाहरणार्थ बंगाल के हिन्दू मुसलमानों के स्वार्थों में जो समानता है, वह बंगाल के मुसलमानों और संयुक्तप्रान्त के मुसलमानों के स्वार्थों में नहीं हो सकती। 'जूट के निर्यात-कर की आय का अंश बंगाल को मिल जाने से, बंगाल के मुसलमानों को भले ही लाभ हो, पर संयुक्तप्रान्त के हिन्दू और मुसलमान किसानों को उससे कोई लाभ नहीं होता। संयुक्तप्रान्त और बिहार में शक्कर-मिल-नियंत्रण सम्बन्धी कानून बनने से इन्हीं प्रान्तों के हिन्दू और मुसलमानों को लाभ हुआ, उससे सिन्ध, पंजाब या मदरास के हिन्दू या मुसलमान कृषकों को लाभ नहीं होता। प्रत्येक प्रान्त की भिन्न-भिन्न राजनैतिक और आर्थिक समस्याएँ हैं, उनका समाधान साम्प्रदायिक भेद के आधार पर न होकर सार्वजनिक हित के ही आधार पर हो सकता है।'

एकता और समझौते—हम पहले कह चुके हैं कि

ग्रामों में हिन्दू-मुसलमानों की संस्कृति और रहन-सहन में भेद विशेष नहीं है; वहाँ इनके झगड़े शुरू नहीं होते; ये झगड़े तो शहरों में आरम्भ होते हैं, और वहाँ से कभी-कभी गाँवों में भी पहुँचने लगते हैं। आचार्य विनोबा ने ठीक लिखा है कि कुछ महत्वाकांक्षी, बेकार और पढ़े-लिखे लोग दोनों को भिड़ाकर खिलवाड़ करते हैं। और ये लोग प्रायः शहरी ही होते हैं। ऐसे आदमी यथासम्भव एकता नहीं होने देते।

अनेक देश-प्रेमी सज्जन भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में एकता स्थापित करने के लिए अत्यधिक व्याकुल हैं, इसलिए यहाँ समय-समय पर कई एकता - सम्मेलन हुए और कई बार समझौते भी हुए। परन्तु अभी यथेष्ट सफलता नहीं मिली। वास्तविक एकता वही है जो हर दशा में बनी रही, चाहे देश में राष्ट्रीय आन्दोलन हो या शान्ति के समय का रचनात्मक कार्य हो। उन लोगों की देशभक्ति में तो सन्देह करने का कोई कारण नहीं है, जो 'जैसे-बने' एकता स्थापित करने के अभिलाषी हैं, पर इस 'जैसे-बने' की नीति में मौलिक दोष है। वास्तव में वही एकता या समझौता सफल और स्थायी होता है, जिसका आधार न्याय-मूलक हो। विशेषाधिकार के प्रलोभन, बाजारू मोल-भाव या पक्षपात-पूर्ण समझौते से सफलता क्षणिक ही होती है। जिस समुदाय के साथ एक बार कोई अनुचित रियायत कर दी जाती है, वह साधारणतया अपनी पृथकता तथा स्वतन्त्रता का अनुभव करने लगता है, तथा उस रियायत को अपना अधिकार समझने लगता है, और पीछे से उसे अधिकाधिक बढ़वाने का इच्छुक होता है। इस प्रकार उसका असन्तोष बना रहता है, और

, वह एकता में बाधक होता है।

एकता के प्रयत्न सफल न होने का एक कारण यह भी है कि समझौते 'नेताओं' से किये गये, जिन्हें समाज-हित की अपेक्षा अपनी नेतागिरी की चिन्ता अधिक होती है। ये समझौते के लिए अव्यावहारिक शर्तें रखते हैं, साम्प्रदायिकता-पूर्ण भाषण देते या वक्तव्य प्रकाशित करते हैं, और अपनी पृथक् संस्था बनाये रखकर अपना स्वार्थ सिद्ध करते रहते हैं। इन नामधारी नेताओं से समझौता करने में सफलता की आशा छोड़ कर राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं को सीधे जनता के सम्पर्क में आना चाहिए; राजनैतिक या आर्थिक कार्यक्रम रखकर लोगों में कार्य करना चाहिए। इस दिशा में कुछ कार्य किया गया है, उसका परिणाम भी बहुत सुन्दर हुआ है। यदि कुछ समय लगातार ऐसा काम होता रहे तो न केवल मुसलमानों की, कांग्रेस के राष्ट्रीय कार्य में भाग लेने की प्रवृत्ति बढ़े, वरन् वे अपने ऊपर से पुराने, साम्प्रदायिक नेताओं की नेतागिरी का भार उतार फेंकने में भी समर्थ हों।

महात्मा गांधी ने सन् १९२४ में साम्प्रदायिक दंगों से दुखी होकर २१ दिन का अनशन किया। इस अवसर पर एकता-परिषद हुई, जिसमें गम्भीरतापूर्वक विचार-विमर्श हुआ। सन् १९३२ में महात्माजी ने ब्रिटिश प्रधान मन्त्री के 'साम्प्रदायिक निर्णय' के विरोध में आमरण अनशन किया, जिससे हरिजनों को पृथक् मताधिकार देकर हिन्दुओं से पृथक् करने का प्रयत्न किया गया था। महात्माजी के अनशन के फल-स्वरूप पूना का समझौता हुआ, उसके अनुसार यह व्यवस्था की गयी कि हरिजनों के लिए व्यवस्थापक सभाओं

में, निर्धारित अनुपात में स्थान सुरक्षित रखे जायँ; उनका पृथक् निर्वाचन न हो। महात्माजी के अतिरिक्त कुछ अन्य महानुभावों ने भारतीय समाज में एकता स्थापित करने को लिए बहुत प्रयत्न किया है। परन्तु ऐसे नेता देश में कुल मिलाकर कितने हैं!

एकता स्थापित होने में एक मुख्य बाधा हमारी पराधीनता भी है। विदेशी शासक ऊचे-ऊचे सिद्धान्तों की बातें कहते हुए भी प्रायः हृदय से इस बात के इच्छुक और प्रयत्नशील नहीं होते कि देश से अनैक्य तथा फूट दूर हो, कारण, यही तो उनकी स्थिरता के आधार स्तम्भ होते हैं। प्रत्यक्ष या परोक्ष में वे कोई साम्प्रदायिकता-वर्द्धक बात उपस्थित करके अल्पज्ञ स्वार्थी लोगों को अपने हाथ की कठपुतली बनाते हैं, और उनके द्वारा अपना मनोरथ सिद्ध करते हैं। इस प्रकार पराधीन रहने की दशा में राष्ट्रीय एकता की आशा पूरी होना कठिन है। इसलिए जल्दी-से-जल्दी स्वाधीनता प्राप्त करने का प्रयत्न किया जा रहा है, इस पर स्वतन्त्र विचार आगे किया जायगा। अस्तु, साम्प्रदायिक मतभेद की बात ऊपरी है। मुख्य प्रश्न आर्थिक और राजनैतिक है। जब जनता पूर्ण रूप से जागृत हो जायगी, और स्वार्थी नेताओं की बातों में आना छोड़ देगी, तो वह मिलकर सम्मिलित कष्टों को हटाने तथा राष्ट्रीय उन्नति करने मे दत्त-चित्त होगी; तब साम्प्रदायिक समस्या का स्वत: अन्त हो जायगा।

हमें यह अनुभव करना चाहिए कि हम चाहे जिस सम्प्रदाय आदि के क्यों न हों, भारतवर्ष में रहने के नाते हम सब भारतीय हैं, और भारतवर्ष के सामूहिक हित में हम सब का हित है; पृथक्-पृथक् जातियों या सम्प्रदायों का हित साधन करने में किसी का भी वास्तविक कल्याण नहीं है।

सातवाँ परिच्छेद

राष्ट्रीय भावों का प्रचार

नसों में रक्त भारत का, उदर में अन्न भारत का।
करों में कर्म भारत का, हृदय में मान भारत का ॥१॥
तजो भय शोक व लज्जा, बुरी है सौख्य की सज्जा।
कहो हाँ, मांस अरु मज्जा, सभी तन प्राण भारत का ॥२॥

—राधामोहन गोकुलजी

" मैं भारतवर्ष के उजड़े हुए खंडहर का ज़र्रा हूँ।
" यही पूरा पता मेरा, यही है कुल निशां मेरा ॥
" अगर ये प्राण तेरे वास्ते, ऐ देश ! नहिं जावें।
"तो इस हस्ती के तख्ते से, मिटे नामोनिशां मेरा ॥
" मैं तेरा हू, सदा तेरा, रहूंगा बावफा ख़ादिम।
" तुही है गुलस्तिां मेरा, तुही जिन्नत-निशां मेरा ॥
" मेरे सीने में तेरे प्रेम की अग्नि धधकती है।
" निगाहों में मेरी भारत तुही है कुल जहाँ मेरा ॥"

प्राक्कथन—पहले बताया जा चुका है कि भारतवर्ष में एकता के साधन पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं; और, वे साधन राष्ट्रीयता में सहायक तो अवश्य हैं, परन्तु उन सब के होते हुए भी एक बात ऐसी है, जिस के अभाव में राष्ट्र मानो बिना 'ड्राइवर' की मोटर कहा जा सकता है। राष्ट्र रूपी मोटर की संचलिका है, भावों की एकता, अथवा राष्ट्रीय भावना। इस का आशय यह है कि राष्ट्रका प्रत्येक व्यक्ति दूसरेके

सुख को अपना सुख समझ कर उसे बढ़ाने में सहायक हो; इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को दूसरों के दुखों में स्वयं कष्ट का अनुभव करते हुए उनको जीजान से निवारण करने के लिए कटिबद्ध होना चाहिए। इस प्रकार के भावों के प्रचार से राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने में बहुत सहायता मिलती है। इस परिच्छेद में इसी विषय का विचार किया जाता है। पहले स्वदेशानुराग की बात लें।

स्वदेशानुराग—चाहे कितने ही गुणों से भूषित क्यों न हो, जिस मनुष्य को स्वदेश से अनुराग नहीं, अपनी जाति और भाषा से प्रेम नहीं, वह मनुष्य जीता हुआ भी मृतक तुल्य है, और पशु से भी गया-बीता है। अंगरेज़ महाकवि स्काट कहता है—"जिस व्यक्ति ने अपनी जननी-जन्मभूमि के प्रति हार्दिक प्रेम प्रदर्शित नहीं किया है, वह चाहे जितना धनवान, ज्ञानवान, और बुद्धिमान क्यों न हो, किन्तु वह अपनी जाति का आदर-भाजन, और प्रेम-भाजन नहीं हो सकता। जीवन-काल में वह अपने बन्धु-वर्ग से घृणा की दृष्टि से देखा जाता है, मृत्यु के पश्चात् उसकी इस लोक में निन्दा होती है तथा उसकी आत्मा को कभी शान्ति नहीं मिलती।" सभ्य संसार में उन्हीं देशों की गणना होती है, जहाँ के निवासी स्वदेशानुराग में पगे हुए हों।

अतः हम क्यों न अपने देश के अनुराग म रंग जायँ? हमें घूम-फिर कर विविध स्थानों की यात्रा करके अपनी मातृभूमि का दर्शन करना चाहिए। हमारा देश अच्छे जलों वाला, अच्छे फलों वाला, चन्दन से शीतल हरे-हरे खेतों वाला, श्वेत चाँदनी वाली निखरी हुई रातों वाला, तथा खिले हुए फूलों से लदे हुए वृक्षों से सुशोभित है, और प्रकृति देवी का अत्यन्त प्यारा क्रीडास्थल है। क्या गगन-स्पर्शी

पर्वत-श्रेणी, क्या ऊंची लहरें लेता हुआ नीलाम्बु-पूर्ण अथाह समुद्र, क्या बड़ी-बड़ी नदियाँ, क्या अनन्त बालुकामयी मरूभूमि, क्या वृक्ष, लता, पत्र, पुष्प से चित्रित विचित्र उद्यानभूमि, क्या श्वापदों से भरा हुआ गहन कानन, क्या बड़े-बड़े प्रासादों से शोभाय-मान नगर, क्या शस्य-श्यामल कृषि-क्षेत्र, क्या ताल, तमाल, आम-कदली से परिवेष्टित ग्राम, क्या साधु सन्यासियों के योगाश्रम — किसी भी दृश्य का हमारे देश में अभाव नहीं है। भारत-भूमि सारे जगत की प्रदर्शनी कही जा सकती है। संसार-भर के उत्तमोत्तम पदार्थ प्रकृति ने यहाँ लाकर रख दिये हैं; हमारी मातृभूमि जगत् के ज्ञान, सभ्यता और धर्म-तत्व की आदि जननी है।

हिन्दुओं के प्राचीन शास्त्रकार कहते हैं कि मनुष्य बहुत पुण्य-फल से इस पवित्र कर्म-भूमि भारतवर्ष में जन्म ग्रहण करता है। बहु-संख्यक इस्लाम धर्मावलम्बी महापुरुषों की समाधियाँ तथा अनेक मुसलमानों की शक्ति, सभ्यता और गौरव के असंख्य चिन्ह वक्ष-स्थल पर धारण करने के कारण, यह भूमि मुसलमानों के लिए भी पवित्र हो गयी है।

क्या हमारे देश में महाराज हरिश्चन्द्र से सत्य-प्रिय, राजा राम-चन्द्र से आज्ञा-पालक, महात्मा कृष्ण से योगी, पितामह भीष्म से दृढ़-प्रतिज्ञ, गौतम बुद्ध से सुधारक, कणाद व पातञ्जली से तत्ववेत्ता, युधिष्ठिर से धर्मात्मा, प्रताप, शिवाजी तथा हैदर और टीपू से वीर, दयानन्द और शङ्कराचार्य्य से बाल-ब्रह्मचारी, तथा अशोक, अकबर, मीरकासिम प्रभृति प्रजा-वत्सल शासक पैदा नहीं हुए हैं? क्या हमारी भाषामें सूर, तुलसी, बिहारी, केशव, रहीम, मलिक-मोहम्मद जायसी और

हरिश्चन्द्र सरीखे महाकवि नहीं हुए हैं ? निदान, जब किसी बात में भी हमारा देश दूसरे देशों से, हमारी जाति दूसरी जातियों से, तथा हमारी भाषा दूसरी भाषाओं से कम नहीं, तो हम क्यों दूसरों की अपेक्षा अपने देश, अपनी जाति तथा अपनी भाषा से प्रेम करने में पीछे रहें !

भारत-माता और उसकी सेवा—समुचित देश-प्रेम के लिए यह आवश्यक है कि लोगों को स्वदेश के सम्पूर्ण रूप की कल्पना हो; वे उसके किसी अंग विशेष को ही जन्मभूमि या मातृभूमि न मानें। यद्यपि यहाँ प्राचीन काल में धार्मिक और सांस्कृतिक एकता बनाये रखने का अच्छा प्रयत्न हुआ, मध्यकाल में भिन्न-भिन्न भागों के निवासियों का दृष्टिकोण बहुत संकुचित रहा। वास्तव में अब से कुछ समय पूर्व तक लोगों ने भारतमाता के सम्पूर्ण रूप के दर्शन बहुत कम किये। अधिकतर व्यक्तियों ने उसके एक-एक अंग विशेष की ही कल्पना की। वे प्रान्तीयता या जातियता से ऊँचे नहीं उठ सके। किसी ने केवल हिन्दू माता का दर्शन किये, किसी ने पंचनद माता के, किसी बंग ने माता के। इस समय भी हिन्दू राष्ट्र और मुसलिम राष्ट्र की पुकार सुनने में आती है। संतोष का विषय है कि अब विचारशीलों का दृष्टिकोण उदार और व्यापक होता जा रहा है, और सर्व-साधारण अधिकाधिक संख्या में भारतमाता के समग्र स्वरूप के दर्शन करने लगे हैं।

आधुनिक काल में, इस दिशा में, सर्व-प्रथम पथ-प्रदर्शन करने वाले महानुभावों में स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ जी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। स्वामी राम का यह कथन सर्वविदित है कि

'भारतवर्ष वह शरीर है, जिसके चरण सुदृढ़ केमोरिया हैं, हिमाचल जिसका उच्च सिर है, परम पवित्र जाह्नवी और ब्रह्मपुत्र जिसके मस्तक से निकले हैं, विन्ध्याचल जिसकी कमर में बँधा हुआ कमरबन्द है, कारोमडल और मालाबार जिसकी दाईं तथा बाईं भुजाएँ हैं, जो सब मानव जाति का आलिंगन करने को फैली हैं।' यह भारत माता हमारी आराध्य देवी है, और इसी माता की वेदी पर कुर्बान होना प्रत्येक राष्ट्रीय विचार वाला व्यक्ति अपना कर्त्तव्य समझता है।

स्वामी राम का कथन है कि 'जैसे शैव शिव की पूजा करता है, वैष्णव विष्णु की, ईसाई ईसा की, और मुसलमान मोहम्मद की उपासना करते हैं; वैसे प्रेम में लीन होकर मैं भारत के दृश्य को अपने हृदय में लाकर उसकी पूजा करता हूँ।

"जिस समय मुझे कोई भारतवासी दिखलायी पड़ता है, चाहे वह शैव हो या वैष्णव, ईसाई हो या मुसलमान, पारसी हो या सिक्ख, सन्यासी हो अथवा परिया, भारतमाता के हर एक लाल को मैं मूर्तिमान भारत ही समझ कर उसकी पूजा करने लगता हूँ। हे भारत! मैं तेरे हर एक रूप में तेरी उपासना करता हूं। तू ही मेरी काली है, तू ही मेरा इष्ट देव है, तू ही मेरा सालिग्राम है।"

जननी-जन्मभूमि का हम पर कितना ऋण या उपकार है! उस की गोद में हम पले हैं, उसके अन्न-जल से हमारा शरीर पुष्ट हुआ है, उस के मधुर फलों का हमने स्वाद लिया है, उस के घी-दूध से हमारा बल बढ़ा है। उस के कपास और ऊन से हमारा तन ढका है। उसने हमारा मल-मूत्र सहा है, वह हमारी माँ की भी माँ है, वह हमारे अन्त काल में हमारे भौतिक शरीर को आश्रय प्रदान करेगी। ऐसी आदर्श माता को कोई विवेकशील व्यक्ति कैसे भुला सकता है।

महापुरुषों का जयन्ति-उत्सव मदरास के बाहर—निदान प्रत्येक प्रान्त के महापुरुषों का उत्सव उस प्रान्त के बाहर भी, देश-भर में उत्साह और जोश के साथ मनाया जाना चाहिए। इससे राष्ट्रीयता का और मानवता का भाव उदय होने में बड़ी सहायता मिलेगी और राष्ट्र-संगठन का कार्य बहुत सुगम और प्रशस्त होगा।*

अन्य उपयोगी कार्य—राष्ट्रीय भावों के प्रचार के लिए प्रसंगानुसार अन्य उपायों तथा अवसरों का भी उपयोग करते रहना चाहिए। उदाहरणार्थ हम अपने त्यौहारों, उत्सवों और खेल-तमाशों के अवसर पर विविध प्रकार से जनता में राष्ट्रीय भाव भर सकते हैं। मेले तमाशे में राष्ट्रोपयोगी विषयों पर अच्छे-अच्छे भाषण करा सकते हैं, मादक-द्रव्य-निषेध, अस्पृश्यता-निवारण, स्वदेशी-वस्तु-प्रचार, समाज-सुधार आदि सम्बन्धी विषयों पर आकर्षक संलाप, (बातचीत) या प्रश्नोत्तर करा सकते हैं, या सुन्दर दृश्य दिखा सकते हैं। मैजिक लालटेन, सिनेमा, और नाटकों आदि के द्वारा सर्वसाधारण के मन में विविध राष्ट्रीय आदर्शों की अच्छी छाप बैठायी जा सकती है। राष्ट्रीय गान बनवा कर उनका प्रचार करने से भी राष्ट्रीय भावों के प्रचार में बड़ी सहायता मिल सकती है। सरल भाषा के मनोहर गान बालकों को बहुत जल्दी कंठ हो जाते हैं, वे उन्हें सड़कों और बाजारों में गाते रहते हैं, इससे उनमें ही नहीं, सुनने वालों में भी देश-प्रेम की जागृति होती है।

हमारे अनेक बन्धुगण नित्य पूजा-पाठ करते हैं। अपने-अपने इष्ट

* इस सम्बन्ध में हमारी 'श्रद्धाञ्जली' पुस्तक पठनीय है, इसमें हिन्दू मुसलमान और ईसाई, देशी और विदेशी, पूर्वी और पश्चिमी सभी प्रकार के महापुरुषों के प्रति श्रद्धाञ्जली अर्पित की गयी है।

देवी देवता का स्मरण और स्तुति करते हैं। देश-प्रेमी सज्जनों को चाहिए कि जननी-जन्मभूमि की आराधना और वन्दना करना अपना नित्य-कर्म बनावें। वे शुद्ध उदार हृदय से भारत माता की प्रार्थना करें, उसकी प्राचीन गौरव-गाथा का पाठ पढ़ें, वर्त्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति का संकल्प करें, उसके आशामयी भावी स्वरूप का चित्र अपने चित्त में अंकित करें और सुयोग्य माता के सुयोग्य पुत्र बनने के लिए जी-जान से उद्योग करें। इस प्रकार के मातृ-भक्ति के भावों का प्रचार करने में भारतीय ग्रन्थमाला में प्रकाशित 'मातृ-वन्दना' पुस्तक बहुत सहायक होगी।

राष्ट्रीयता के भावों को स्थूल रूप देने का भी ध्यान रखा जाना आवश्यक है। सूक्ष्म या अमूर्त वस्तु बहुत स्थायी नहीं होती। अतः हमें अन्यान्य बातों में स्वदेशी-प्रचार की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए; हम ऐसा प्रयत्न करें कि हमारे उदाहरण और अनुरोध से सर्वसाधारण स्वदेशी व्रत धारण करे। वे यथा-सम्भव अपनी समस्त आवश्यकताओं को भारत में ही बनी हुई वस्तुओं से पूरी करें। अन्यान्य वस्तुओं में आज-कल शुद्ध स्वदेशी खद्दर के प्रचार का आन्दोलन हो रहा है; इसी एक स्वदेशी वस्तु के व्यवहार से यहाँ के करोड़ों रुपयों का प्रति वर्ष विदेश जाना रुक गया है। अभी आन्दोलन की और भी बहुत आवश्यकता है। खेद है, बहुत-से भाइयों को हाथ से कते सूत का बुना हुआ खद्दर मानों काँटे की तरह चुभता है, कोमलता की पराकाष्टा होगयी! आशा है, इसमें यथेष्ट सुधार होगा। अस्तु, विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। जब हमारे मन में राष्ट्रीय भावों के प्रचार की लगन होगी तो स्थानीय तथा सामयिक परिस्थिति के अनुसार हमें उसके विविध उपाय तथा मार्ग भी सूझ जायेंगे।

आठवाँ परिच्छेद

राष्ट्रीय झंडा और गीत

माँ की माँ है, जन्मभूमि सब की पूज्यतम् ।
सब मिल कहिए, प्रेम से बस वन्देमातरम् ॥

यह झण्डा खेल मत समझो, यही मुल्की निशानी है ।
इसी के आसरे मुल्कों में, क़ौमी क़दरदानी है ॥
समझलो मुनहसिर इस पर, ही यारो ज़िन्दगानी है ।
कटाकर सर भी अपना, फ़र्ज़ इस की निगहबानी है ॥
उठो आगे बढ़ो, इस की बचाओ शान ऐ यारो ।
'बहादुर' जान रखते हो, तो इस पर जान को वारो ॥

राष्ट्रीय भावों के विकास के लिए प्रत्येक राष्ट्र का एक खास तरह का राष्ट्रीय झंडा होता है। इससे यह पता लगता है, कि उस राष्ट्र में जीवन है, एकता है, और स्वातन्त्र्य-प्रेम है। बहुधा यह झंडा यह भी बतलाता है कि उस राष्ट्र की संसार के अन्य देशों में क्या विशेषता, आदर्श और लक्ष्य है। झण्डे का और राष्ट्र-निवासियों का पारस्परिक भाव विलक्षण होता है। राष्ट्र-वासी अपने झंडे में बड़ी श्रद्धा और भक्ति रखते हैं, और उसके सम्मान की रक्षा के हेतु अपना जीवन सहर्ष न्यौछावर करते हैं। यह झंडा भी राष्ट्र-वासियों में अद्भुत उत्साह, साहस और वीरता के प्रबल भावों का संचार करता है। राष्ट्रीय झंडे के नीचे आकर देशवालोंके भिन्न-भिन्न भेद-भाव नष्ट हो जाते हैं, और सब व्यक्ति राष्ट्र-प्रेमी

होने का प्रमाण देते हैं अंगरेज़ अपने 'यूनियन जेक' के लिए आवश्यकता होने पर अनेक वीरों की बलि देने को तैयार रखते हैं। अमरीका वाले अपने 'तारा-पट' को देखकर हृदय में गद्गद् हो जाते हैं। जापान ने अपने 'उगते हुए सूर्य' वाले झंडे के गौरव की रक्षा के वास्ते रूसी-जापानी युद्ध में कितना अनुपम त्याग किया, यह पाठकों से छिपा नहीं है। 'अर्द्ध-चन्द्र' वाला झंडा देखकर तुर्कों की नस-नस में नया खून जोश मारने लगता है। इसी प्रकार सभ्य और उन्नत कहलाने वाले अन्य राष्ट्रों का उदाहरण दिया जा सकता है।

भारतवर्ष का राष्ट्रीय झंडा—मिश्र, यूनान और रोम आदि की तरह भारतवर्ष के भी झडे का इतिहास बहुत पुराना है। श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन 'कपिध्वज' कहा गया है, इससे विदित होता है कि महाभारत काल में झंडे पर हनुमान का चिन्ह होता था। अशोक का झंडा गेरुआ था। गुप्तकाल में गरुड़-ध्वजा का उपयोग होता था, जो वैष्णव मत की सूचक है। महाराणा प्रताप के लाल झडे पर सिंह का और शिवा जी के झडे पर भवानी और तलवार का चित्र था। पिछली शताब्दियों में, देश में कोई एक सर्वमान्य झंडा नहीं रहा। यह बात पहले-पहल प्रवासी भारतीयों को बहुत खटकी। राष्ट्रीयता के भावों के उदय होने पर विचारशील भारतवासियों के मन में अपना एक राष्ट्रीय झंडा बनाने की कल्पना उठी। तरह-तरह के नमूने सामने आये। उन पर विविध प्रकार के विचार हुए। सन् १९२१ में म० गान्धी ने यह सम्मति प्रकट की कि भारतवर्ष के राष्ट्रीय झंडे में सफेद, हरा और लाल रंग रहे। लाल रंग हिन्दुओं का द्योतक हो, हरा मुसलमानों का, और सफेद अन्य सब धर्मों का। सबसे निर्बल सम्प्रदाय झडे में

प्रथम स्थान प्राप्त करे, उसके बाद मुसलमानी रंग और उसके बाद हिन्दू रंग। इसका तात्पर्य यह है कि सबल ही निर्बलों के रक्षक का काम करेगा, इसके अतिरिक्त सफेद रंग शान्ति और पवित्रता का भी परिचायक है। हमारी राष्ट्रीय पताका का यदि कोई भाव हो तो यही, अन्यथा कुछ नहीं। छोटे और बड़ों में समानता सूचित करने के निमित्त तीनों रंगों को समान स्थान प्रदान किया जाय।

"इस झंडे के एक ओर चर्खे का चित्र हो। भारतवर्ष एक महादेश है जो इङ्गलैंड की तरह सहज ही में औद्योगिक देश नहीं बनाया जा सकता। हमारी एकमात्र आशा केवल राष्ट्र के दुरुपयोगित समय का सदुपयोग करना ही होनी चाहिए, जिससे हम अपनी झोपड़ियों में रुई से कपड़े बनाकर देश के धन की वृद्धि कर सकें। इसी के द्वारा हम सारे संसार को यह सूचित करते हैं कि हमने अब भोजन आच्छादन के सम्बन्ध में किसी पर तनिक भी निर्भर न रहने की ठान ली है। झँडा खद्दर का हो, क्योंकि भारत मोटे कपड़े द्वारा विदेशी बाजारों से स्वाधीन हो सकता है। यदि धार्मिक संस्थाएँ इस तर्क से सहमत हों तो वे अपने धार्मिक झंडों में भी इसे रखें।"

अस्तु, जगह-जगह इस नमूने के राष्ट्रीय झंडे बनाये गये। कांग्रेस-कमेटियों के दफ्तरों पर, राष्ट्रीय-दल प्रधान म्युनिसपेलटियों पर, तथा अनेक मकानों पर ऐसे झंडे फहराने लगे। मान्यवर नेताओं के अभिनन्दन, स्वागत-सत्कार और जलूसों में यह झंडा अब अत्यावश्यक माना जाने लगा।

अधिकार-प्रेमी अधिकारियों को हमारी राष्ट्रीयता-वर्द्धक' अन्यान्य बातों की तरह इस राष्ट्रीय झंडे की योजना और प्रचार से भी चिढ़

होना स्वाभाविक था। उन्होंने झंडा निकालने वालों पर तरह-तरह के दोष आरोपित किये और उन्हें विविध 'कानूनी' धाराओं का शिकार बनाया। परन्तु इन बातों से राष्ट्रीयता का प्रेम बढ़ता ही गया। सन् १६२३ ई० में नागपुर का सुप्रसिद्ध झंडा सत्याग्रह हुआ; अनेक नवयुवकों और महिला स्वयं-सेविकाओं ने झंडे के सम्मान के लिए सहर्ष कारावास का स्वागत किया और लाठी-वर्षा आदि के कष्ट सहे, परन्तु झंडा ऊंचा ही रखा। उक्त वर्ष कोकोनाडा में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, उसमें तत्कालीन राष्ट्रपति स्व० मौलाना मोहम्मद-अली ने यह राष्ट्रीय झंडा फहराया। उस साल से प्रतिवर्ष कांग्रेस में राष्ट्रीय झंडा फहराया जाने लगा; प्रान्तीय राजनैतिक या राष्ट्रीय सभा-समितियों के अधिवेशनों का भी यह एक आवश्यक कार्यक्रम हो गया।

सन् १६२४ ई० से पूर्व, राष्ट्रीय झंडा-वन्दन अर्थात् झंडे की सलामी की कोई निश्चित विधि नहीं थी। उक्त वर्ष हिन्दुस्तानी सेवा-दल ने इस के नियम बनाये; उनका सर्वत्र पालन किया जाता है। सन् १६२८ ई० में यह निश्चय किया गया कि प्रत्येक अंगरेजी मास के अन्तिम रविवार को प्रातःकाल हर जगह कांग्रेस मे झंडा-वन्दन किया जाय। इस बीच में श्री० श्यामलाल जी पार्षद ने 'झंडा ऊँचा रहे हमारा' शीर्षक सुप्रसिद्ध झंडा-गान बनाया; यह सर्व-प्रथम सन् १६२५ ई० में कानपुर की कांग्रेस में गाया गया।

झंडा-गान

झंडा ऊँचा रहे हमारा।
विजयी विश्व तिरंगा प्यारा ॥
सदा शक्ति बरसाने वाला, प्रेम-सुधा सरसाने वाला;
वीरों को हरषाने वाला, मातृभूमि का तन मन सारा।

झंडा ऊँचा रहे हमारा ॥ १ ॥

स्वतन्त्रता के भीषण रण में, लखकर जोश बढ़े क्षण-क्षण में;
काँपे शत्रु देख कर मन में, मिट जावे भय संकट सारा।
झंडा ऊँचा रहे हमारा ॥ २ ॥

इस झंडे के नीचे निर्भय, लें स्वराज्य यह अविचल निश्चय;
बोलो भारत माता की जय, स्वतन्त्रता हो ध्येय हमारा।
झंडा ऊँचा रहे हमारा ॥ ३ ॥

आओ, प्यारे वीरो आओ, देश-धर्म पर बलि-बलि जाओ;
एक बार सब मिल कर गाओ, प्यारा भारत देश हमारा।
झंडा ऊँचा रहे हमारा ॥ ४ ॥

शान न इसकी जाने पाये, चाहे जान भले ही जाये;
विश्व-विजय करके दिखलाये, तब होवे प्रण पूर्ण हमारा।
झण्डा ऊँचा रहे हमारा ॥ ५ ॥

उस समय राष्ट्रीय झण्डे के रंग भिन्न-भिन्न जातियों के सूचक थे; और, स्वतन्त्र रूप से रंग केवल हिन्दुओं और मुसलमानोंके ही थे। इससे अन्य लोगों को आपत्ति होने लगी। सिक्ख आदि जातियों ने अपने-अपने अलग-अलग रंगों को झण्डे में स्थान दिये जाने की माँग की। अन्ततः सन् १९३१ में पुनः बहुत विचार-विनिमय हुआ। पश्चात् कांग्रेस-कार्य-समिति ने निश्चय किया कि राष्ट्रीय झण्डे के रंग जातियों या धर्मों के सूचक नहीं माने जायँगे, किन्तु गुणों के प्रतीक होंगे। इस विचार से झण्डे में तीन रङ्ग रखे गये; ऊपर की पट्टी केशरी रंग की धैर्य और त्याग बताने वाली; बीच की पट्टी सफेद रंग की, सत्य और शान्ति बताने वाली; नीचे की पट्टी हरे रंग की, विश्वास और प्रताप बताने वाली। बीच की सफेद पट्टी पर गहरे नीले रंग का चर्खा बनाये जाने का निश्चय किया गया। साथ ही यह भी तय किया

गया कि झंडे की लम्बाई और चौड़ाई में तीन और दो का अनुपात रहे, और, झंडे का कपड़ा खादी अर्थात् हाथ का कता और हाथ का बुना सूती, रेशमी या ऊनी होना चाहिए।

सन् १९३५ ई० के विधान के अनुसार सन् १९३७ से १९३९ तक गवर्नरों के ग्यारह प्रान्तों में से आठ में, कुछ अपूर्ण रूप से ही सही, कांग्रेस-शासन रहा। इस समय इन प्रान्तों में सरकारी इमारतों पर भी तिरंगा झंडा फहराया। यह निश्चित है कि यह राष्ट्रीय झंडा निकट भविष्य में समस्त भारत के लिए सरकारी झंडा हो जायगा। परन्तु अभी इस में कुछ चिन्तनीय कमी है। देश की जाति, समूह या सम्प्रदायों की विभिन्नता झंडों की अनेकता में प्रकट हो रही है। साधुओं और महन्तों का तो मानों राष्ट्रीय पताका से कुछ प्रयोजन ही नहीं, कुछ हिन्दू केवल भगवा झंडे की स्मृति रखना चाहते हैं, बहुत से आर्यसमाजियों को सिर्फ ओ३म् का झंडा प्यारा है, तो किसान और मज़दूरों को रूस का लाल झंडा ही अच्छा लगता है। इनके अतिरिक्त, अनेक साम्प्रदायिक मुसलमान ऐसे हैं, जो राष्ट्रीय झंडे को एक दल विशेष का झंडा समझते हैं, और अपना झंडा अलग रखते हैं, अथवा इंगलैंड के राष्ट्रीय झंडे 'यूनियन जेक' को सिर नवाते हैं। वे भूल जाते हैं कि 'यूनियन जेक' तो ब्रिटिश साम्राज्यान्तर्गत सब स्वाधीन उपनिवेशों का भी राष्ट्रीय झंडा नहीं है,* और वह हमारे लिए तो पराधीनता का ही परिचायक है।

यह तो जनता की बात हुई। इसके अतिरिक्त हमारे देशी नरेशों

* दक्षिण अफ्रीका की यूनियन सरकार ने सन् १९२७ ई० से ही कानून पास करके, 'यूनियन जेक' के साथ अपना एक अलग राष्ट्रीय झंडा भी निश्चित कर रखा है। आयरिश फ्री स्टेट का राष्ट्रीय झण्डा तो पृथक् ही है।

का रुख भी चिन्तनीय है। जब तक भारत में अंगरेजों का राज्य है, अन्य जी-हुजूरों की भांति अधिकांश देशी नरेशों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे राष्ट्रीय झंडे को सरकारी झंडे की तरह सम्मानित करेंगे, परन्तु क्या वे यह भी नहीं कर सकते कि कम-से-कम इस झंडे का अपमान तो न करें? देशी नरेशों को सोचना चाहिए कि उनके राज्यों की प्रजा को, इस राष्ट्रीय झंडे के प्रति सहानुभूति ही नहीं, भक्ति-भाव है; और, यदि नरेश इस झण्डे का विरोध करते हैं तो प्रजा को उत्तेजना होती है; और, निकट भविष्य में सार्वभौम सत्ता का स्थान ग्रहण करने वाली राष्ट्र-सभा कांग्रेस को भी उन के प्रति बुरी भावना बनती है। अतः उन्हें दूरदर्शिता पूर्वक राष्ट्रीय झण्डे के प्रति सद्-भावना का परिचय देना चाहिए। अस्तु, राष्ट्रीयता का तकाजा है कि प्रत्येक स्त्री पुरुष, चाहे वह किसी भी जाति, समूह, या सम्प्रदाय आदि का हो राष्ट्रीय पताका का यथेष्ट सम्मान करे; और, किसी भी दशा में राष्ट्रीय झण्डे को नीचा न होने दे।

राष्ट्र-गीत; वन्देमातरम्

संसार के प्रत्येक देश में राष्ट्रीय झंडे की तरह राष्ट्र-गीत भी बहुत सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। प्रत्येक स्वाभिमानी राष्ट्र का अपना-अपना राष्ट्र-गीत है, जो सार्वजनिक उत्सवों तथा सभाओं आदि में गाया जाता है, और वहाँ के श्रोताओं में जीवन और उत्साह का संचार करता है। हमें यहाँ भारतवर्ष के ही राष्ट्र-गीत के विषय में विचार करना है। यद्यपि यहाँ 'वन्देमातरम्' गायन की रचना किसी संस्था द्वारा, राष्ट्र-गीत के रूप में, नहीं की गयी, और न उसके प्रचार के लिए कोई विशेष सरकारी या गैर-सरकारी आन्दोलन ही हुआ,

तो भी यह वह गीत है जिसने उत्तर से दक्षिण तक लोगों को देश-भक्ति तथा वीरता के भावों से ओत-प्रोत कर दिया है, जिसने सहस्रों नवयुवकों को स्वेच्छाचारी अधिकारियों का विरोध करके, जेल की यातनाएँ तथा लाठी-प्रहार आदि सहने की सामर्थ्य दी है। यह गीत प्रवासी भारतवासियों में स्वदेशाभिमान का संचार करने में सफल हुआ है। इसकी प्रेरणा से हिन्दू और मुसलमान कंधे से कंधा मिला कर राष्ट्रीय संग्राम में अवतीर्ण हुए हैं। सन् १९१९-२० ई० के असहयोग आन्दोलन में वह भी एक अद्भुत दृश्य था, पुलिस के कर्मचारी जनता की सार्वजनिक सभाओं को भंग करनेके लिए या विदेशी वस्त्रों पर धरना देनेवाले युवकों तथा महिलाओं को उन के कर्तव्य-कार्य से विमुख करने के लिए अपनी अत्याचारमूलक शक्ति का उपयोग करते थे, और भारतीय पुरुष और स्त्रियाँ उनकी प्रत्येक चोट के जवाब में जोर से 'वन्देमातरम्' का उच्चारण करते थे, और दूसरी चोट सहने के लिए तैयार हो जाते थे। इस प्रकार इस गीत के विविध-गुण-सम्पन्न होने का सहज ही प्रमाण मिल जाता है।

इस गीत की रचना भारत के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार स्व० श्री बंकिमचन्द्र जी चेटर्जी ने स्वतन्त्र रूप से की थी, पश्चात् उन्होंने इसे अपने 'आनन्द-मठ' नामक उपन्यास में स्थान दे दिया, जो सन् १८८२ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके रचयिता ने इसे तत्कालीन प्रवृत्ति के अनुसार अंगरेजी राज्य की प्रशंसा के साथ सम्बन्धित किया था; उस समय इसका विशेष प्रचार नहीं हुआ, कालान्तर में जब कि बंग-विच्छेद आदि की अप्रिय घटनाओं से भारतवासी ब्रिटिश राज्य की मोह-माया का त्याग करने लगे और अपने आपको विदेशी शासन से मुक्त करने पर कटिबद्ध हुए तो 'वन्देमातरम्' उनके लिए एक अमोघ शक्ति-प्रदायक

मन्त्र सिद्ध हुआ। बिना किसी संगठित सहायता के यह गीत घर-घर पहुँच गया। इसी गीत के लिए लोगों ने जुर्माना, कैद, लाठी-प्रहार क्या नहीं सहा! अब तो समय बदल गया है। बन्देमातरम् की दीक्षा पाये हुए सज्जनों ने ब्रिटिश भारत में प्रान्तीय शासन-सूत्र तक ग्रहण किया; और अंगरेज अधिकारी इस गीत का विरोध न करना ही उचित समझते हैं।

अब इस राष्ट्र-गीत को दूसरी ओर का, सम्प्रदायवादियों का, विरोध सहना पड़ रहा है। कुछ मुसलिम 'नेताओं' का मत है कि यह गीत राष्ट्र-गीत नहीं है, इसमें हिन्दुत्व के चिन्हों की, मूर्ति-पूजा आदि की, भावना है; यह इसलाम-विरोधी है। इन बातों में कोई तत्व नहीं है। यह कहा जा सकता है कि 'आनन्द-मठ' में मुसलमानों के शासन के प्रति विद्रोह-भाव है। परन्तु विचार करना चाहिए कि प्रथम तो यह विद्रोह पराधीनता के प्रति है, पुनः जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'बन्देमातरम्' गीत की रचना 'आनन्द-मठ' से पूर्व, स्वतन्त्र रूप से हुई है। अतः केवल उस उपन्यास में स्थान दिए जाने के कारण मूल गीत की भावना में दोष निकालना अनुचित है। इसके अतिरिक्त, अनेक बार, धार्मिक और प्रमुख मुसलिम नेताओं ने इस गीत को गाया है, और इसके लिए नाना प्रकार के कष्ट सहे हैं। इस समय भी विचारवान मुसलमान इसे राष्ट्रीय गीत स्वीकार करते हैं।

उपर्युक्त विरोध के कारण कांग्रेस कमेटी ने यह निश्चय किया कि राष्ट्रीय सभाओं में इस गीत के प्रथम दो पद ही गाये जायँ; साधारणतया ये ही दो पद गाये जाते रहे हैं। ये पद निम्नलिखित हैं:—

सुजलाम् सुफलाम् मलयज-शीतलाम्
शस्य-श्यामलाम् मातरम्
शुभ्र-ज्योत्स्ना-पुलकित-यामिनीम्
फुल्ल-कुसुमित-द्रुमदल-शोभिनीम्
सुहासिनीम् सुमधुर-भाषिणीम्
सुखदाम् वरदाम् मातरम्।
त्रिंश-कोटि कण्ठ कलकल-निनाद-कराले,
द्विंत्रिंश-कोटि भुजैर्धृत-खर-कर वाले,
के बोले मा तुमि अबले;
बहुबलधारिणीम् नमामि तारिणीम्
रिपुदल वारिणीम् मातरम्।
श्यामलाम् सरलाम् सुस्मिताम् भूषिताम्
धरणीम् भरणीम् मातरम्।

सभाओं के प्रबन्धकों को इस बात की स्वतन्त्रता है कि वे वन्दे-मातरम् के अतिरिक्त या उसके स्थान पर अन्य कोई ऐसा गीत गायें, जो आपत्तिजनक न हो। सब देश-बन्धुओं को चाहिए कि राष्ट्र-गीतों के गान और प्रचार में उत्साह और हर्ष पूर्वक भाग लें।

नवाँ परिच्छेद

राष्ट्र-भाषा और लिपि

राष्ट्रीयता की एक शर्त यह है कि उस (देश या जाति) की एक भाषा हो। यह आवश्यक नहीं है कि राष्ट्र-भाषा सबकी मातृ-भाषा हो।

राष्ट्र के अवयव-भूत लोगों में बहुजन उसे समझें, और उसके द्वारा शासन, व्यापार आदि कार्य करें, तो वह राष्ट्र-भाषा हो सकती है।

यह सर्वमान्य बात है कि नागरी वर्णमाला के समान सर्वाङ्ग-पूर्ण और वैज्ञानिक किसी दूसरी वर्णमाला का आविष्कार अभी तक नहीं हुआ है। 'सर्वमान्य' से मेरा मतलब उन मनिषियों से है, जो निर्विकार चित्त से इस विषय पर विचार कर सकते हैं।

—बाबूराव विष्णु पराड़कर

भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा

राष्ट्र-भाषा के सम्बन्ध में कुछ बातें 'राष्ट्रीयता के साधन' शीर्षक परिच्छेद में कही जा चुकी हैं। यहाँ राष्ट्र-भाषा-समस्या के सम्बन्ध में कुछ अन्य बातों का विचार करना है। भारतवर्ष में वही भाषा राष्ट्र-भाषा का पद ग्रहण कर सकती है, जो उत्तर से दक्षिण, और पूर्व से पश्चिम तक न्यूनाधिक बोली और समझी जाती हो, तथा, जो अल्प प्रयास से सीखी जा सकती हो। ऐसी भाषा हिन्दी ही है, और हो सकती है। हिन्दी भाषा का केन्द्र संयुक्तप्रान्त है। यहाँ से इसकी लहरें भारतवर्ष में चहुँ ओर फैली हैं। यहाँ तक कि इसकी भौगोलिक सीमाएँ बंगला, मदरासी (तामिल, तैलगू कनाडी),मराठी, गुजराती, मारवाड़ी, पंजाबी, काश्मीरी, नैपाली सब भाषाओं से जा मिली हैं। इस प्रकार हिन्दी इन सबका मिश्रण-स्थल है। जब भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के आदमी आपस में मिलते हैं, तो वे जिस भाषा का उपयोग करके अपना काम चलाते हैं, वह हिन्दी का ही कुछ परिवर्तित स्वरूप होता है। बंगाली कहेगा, 'आप क्या बात करता है।' गुजराती कहेगा, 'आप जल पीओ न, कोई हरकत नहीं।' इस प्रकार हिन्दी भाषा, बिना किसी प्रयास के बनती और प्रचारित होती

है। इससे भाषा को राष्ट्र-भाषा होने की स्वाभाविक योग्यता का परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त, हिन्दी में एक महत्व-पूर्ण विशेषता है, जिससे यह इस पद के लिए यहाँ की अन्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक योग्य प्रमाणित होती है; वह विशेषता है, इसका भारतीय संस्कृति के, सबसे अधिक निकट होना।

श्री० रामनाथ जी 'सुमन' ने 'माधुरी' (दिसम्बर १९३७) में लिखा है—इस में भारत की उठती और गिरती अवस्था तथा समाज में चलने वाले संघर्षों का प्रतिबिम्ब बराबर पड़ता रहा है। इस ने वीर-युग में वीर-कथाएँ सुनायीं, भक्ति युग में भक्ति का गान गाया, और और शृंगार-युग में यह विलासिता से ओत-प्रोत हुई। राष्ट्र के मानस के उत्थान-पतन के साथ इस का उत्थान-पतन सम्बन्ध रहा है। शत-शत सन्तों ने प्रान्त और सम्प्रदाय, जाति और धर्म के भेदों के ऊपर उठकर इसे अपनाया। ..... इस भाषा से हमारी मध्ययुगीन संस्कृति तथा उस के बाद भी समस्त विचार-धाराएँ प्रतिफलित हैं। इसके काव्य में हमारी वीरता और गौरव, हमारे विलास एवं पतन, हमारी मुक्ति की चेष्टा, हमारे समाज में होनेवाले नैतिक, सामाजिक, धार्मिक अनेकानेक आन्दोलनों के सजीव चित्र मिलते हैं। थोड़ी-बहुत ये बातें सभी भारतीय भाषाओं में हैं—सिवा उर्दू भाषा के, जो भारतीय सांस्कृतिक आन्दोलन एवं भारतीय जीवन की मुख्य-धारा से बिलकुल अलग रह गयी है—पर हिन्दी जितनी हमारे सामाजिक जीवन के साथ चली है, और इसी लिए वह हमारी संस्कृति की भाषा होने के जितनी अनुकूल है, उतनी दूसरी भाषाएँ नहीं।

कुछ समय से हिन्दी-उर्दू का विवाद बहुत रहा है। परन्तु प्रत्येक प्रान्त में हिन्दुओं और मुसलमानों की भाषा एक ही है। हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों को छोड़ कर, अन्य प्रान्तों में मुसलमानों का

प्रान्तीय भाषा से ही काम चलता है—बंगाल में बंगला से, गुजरात में गुजराती से, और मद्रास में तामिल तेलगू आदि से। हिन्दी प्रान्तों में भी वास्तव में वे हिन्दी का ही उपयोग करते हैं, परन्तु संयुक्तप्रान्त में, विशेषतया ब्रिटिश अधिकारियों की द्वेष-वर्द्धक नीति के कारण, हिन्दी-उर्दू का झगड़ा बढ़ा। प्राचीन काल से हिन्दी में संस्कृत शब्दों का प्रयोग होता आरहा है, और पहले मुसलमानों ने भी इस भाषा की अच्छी सेवा की है; पर इधर कुछ समय से कितने ही विद्वान उस में फारसी, अर्बी शब्दों की भरमार कर, उसे यथा-सम्भव एक पृथक् भाषा का स्वरूप देने लगे हैं, जिसे प्रायः फारसी लिपि में लिखा जाता है, और उर्दू कहा जाता है।

कुछ वर्षों से सरकार तथा कुछ अन्य लोगों की यह नीति है कि हिन्दी उर्दू के सम्मिलित स्वरूप हिन्दुस्तानी का प्रचार किया जाय। निस्सन्देह हमें जान-बूझ कर हिन्दी में कठिन (संस्कृत के) शब्दों का समावेश न करना चाहिए। साथ ही हमें उर्दू (फारसी, अर्बी) ही नहीं, अंगरेजी आदि के भी उन शब्दों का व्यवहार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए, जिन्हें सर्वसाधारण सुगमता-पूर्वक समझ सकें। इस प्रकार साधारण आवश्यकताओं से सम्बन्ध रखने वाली लोक-भाषा सरल-से-सरल होनी चाहिए, और वह हिन्दुस्तानी हो सकती है।* परन्तु उसके, साहित्य की भाषा के रूप में, सफल होने की आशा नहीं की जासकती। हिन्दी में वैज्ञानिक, दार्शनिक तथा अन्य

---

* कुछ सज्जनों ने हिन्दुस्तानी भाषा के लिए एक हजार अथवा कम-ज्यादह सरल शब्दों का चुनाव किया है, जिस से देश भर के आदमियों की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। हिन्दुस्तानी के कुछ कोष भी प्रकाशित हुए हैं।

गम्भीर विषयों के उच्च साहित्य की रचना के लिए, नवीन शब्दों की आवश्यकता होने पर, उन्हें संस्कृत से बनाया जाता रहा है तथा भविष्य में भी ऐसा ही होना स्वाभाविक है। ऐसा करने से ही यह भाषा भारतवर्ष की सांस्कृतिक विशेषताओं के अनुकूल तथा यहाँ की विविध प्रान्तीय भाषाओं के निकट रह सकती है। परन्तु उर्दू के समर्थक नये शब्दों की आवश्यकता की पूर्ति फ़ारसी अरबी की सहायता से करते हैं, और उर्दू के वाक्यों की रचना-शैली ऐसी रखते हैं जिससे यह हिन्दी से अलग ही मालूम हो। इस प्रकार हिन्दी और उर्दू पृथक्-पृथक् ही रहेंगी; और, हिन्दुस्तानी से समस्या न हल होगी।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तीसवें अधिवेशन में, जो दिसम्बर १९४१ में, अबोहर (पंजाब) में हुआ, एक प्रस्ताव में यह निश्चय किया गया है—'वास्तव में उर्दू भी हिन्दी से उत्पन्न अर्बी फारसी मिश्रित एक रूप है। हिन्दी शब्द के भीतर ऐतिहासिक दृष्टि से उर्दू का समावेश है, किन्तु उर्दू की साहित्यिक शैली, जो थोड़े-से आदमियों में सीमित है, हिन्दी से इस समय इतनी विभिन्न हो गयी है कि उसकी पृथक् सत्ता सम्मेलन स्वीकार करता है, और हिन्दी की शैली से भिन्न मानता है।'

अस्तु, वर्त्तमान परिस्थिति में हम साहित्य के लिए हिन्दी और उर्दू दोनों ही भाषाओं को जारी रहने दें, कोई दूसरे के मार्ग में बाधक न बने, और न इनमें से किसी भाषा का वृथा पक्षपात किया जाय। कालान्तर में इस बात का निर्णय स्वयं हो जायगा कि कौनसी भाषा अधिकतम लोगों को अच्छी लगती है, तथा राष्ट्रोपयोगी प्रमाणित होती है।

जैसा कि श्री० मुरलीधर जी श्रीवास्तव बी० ए०, एल-एल० बी० ने 'विश्वमित्र' में लिखा है, हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू इन तीन

नामों में से हिन्दी नाम सब से पुराना है। उर्दू के (मुसलमान) कवि १२२८ ई० से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक, छः सौ वर्ष तक, उर्दू को हिन्दी के ही नाम से जानते थे। तुलसीदास आदि प्राचीन हिन्दू लेखकों ने तो इस के लिए 'भाषा' शब्द का ही प्रयोग किया है। उर्दू शब्द राष्ट्र-भाषा के लिए अठारहवीं सदी के अंत में प्रयोग में आने लगा है। 'हिन्दुस्तानी' शब्द उर्दू नाम से पहले का होता हुआ भी भारतीय जनता में उन्नीसवीं सदी तक अप्रचलित रहा है। अस्तु, हमारी भाषा का हिन्दी नाम मुसलमानों का दिया हुआ है, तथापि साधारण बोलचाल में यही शब्द सैकड़ों वर्षों से प्रयुक्त होता है। उन्नीसवीं सदी के बाद से हिन्दू लेखकों ने इस भाषा को इसी नाम से पुकारा है, और हमारी संस्थाओं के साथ भी यह नाम अटूट रूप से जुड़ गया है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और अनेक हिन्दी-साहित्य-परिषदों ने इस नाम को लोकमान्य और सर्व-प्रसिद्ध बना दिया है। यह नाम हिन्दुस्तानी से छोटा होने के कारण भी उससे अच्छा है। हिन्दुस्तानी हिन्दी का सरल, आम-फहम रूप है; और उर्दू उसका अर्बी-फारसी की ओर झुका हुआ रूप। किन्तु हमारी राष्ट्र-भाषा का नाम हिन्दी ही है।

हिन्दी और हिन्दुस्तानी के अतिरिक्त, कुछ दिनों से 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' या 'हिन्दी याने हिन्दुस्तानी' नाम भी चल रहा है। इसका प्रचार और इसके समर्थक बहुत कम हैं। यह नाम कृत्रिम है।

भारतवर्ष की राष्ट्र-लिपि

राष्ट्र-लिपि के विषय में कुछ विचार तीसरे परिच्छेद में किया जा चुका है। भारतवर्ष के लिए सर्व-श्रेष्ठ और सब से अधिक प्रचलित

लिपि देवनागरी या नागरी है। इस देश के निवासियों में से प्रति सैकड़ा ६७ आदमी ऐसी भाषाओं का प्रयोग करते हैं जो इसी लिपि में, अथवा इससे मिलती हुई अन्य लिपि में, लिखी जाती हैं। मदरास प्रांत को छोड़ कर, भारतवर्ष की अन्य प्रधान लिपियाँ बंगला, मराठी, गुजराती, और पंजाबी हैं। इनमें से मराठी तो नागरी से प्रायः मिलती ही है, और शेष तीन लिपियों से नागरी कुछ कम नहीं। शीघ्र-लेखन के लिए इसके अक्षरों की ऊपर की रेखा हटायी जाती है (केवल ख, घ, भ, और ध, का रूप बदला जाता है)। नागरी अक्षर कितने ही प्रांतों तथा देशी राज्यों में प्रचलित हैं, जबकि अन्य लिपियों का क्षेत्र बहुत ही सीमित है। इस प्रकार नागरी लिपि ही राष्ट्र-लिपि होने की योग्यता रखती है। इसके प्रचार के लिए भी आन्दोलन हो रहा है। हिन्दी भाषा के अतिरिक्त, कई एक अन्य प्रांतिक भाषाओं का साहित्य भी अधिकांश इसी लिपि में प्रकाशित होने लगा है।* इस प्रकार भारतवर्ष की राष्ट्र लिपि बनने की सब से अधिक योग्यता इसी लिपि में है।

यहाँ विशेषतया मुसलमान, लिपि के प्रश्न पर निष्पक्ष विचार नहीं करते। वे राष्ट्र-लिपि का सम्मान फारसी लिपि को देना चाहते हैं, जिसमें उर्दू लिखी जाती है, और जिसे जन-साधारण उर्दू ही कह देते हैं। मुसलमानों का पक्ष लेकर सरकार विगत वर्षों में इस लिपि को अनावश्यक महत्व देती रही है। कांग्रेस ने भी समझौते की

*द्राविड़ी भाषाओं (एव विदेशी भाषाओं) को इस लिपि में लिखने के लिए कुछ चिन्हों की जरूरत होगी, जो रोमन लिपि से सहज ही लिये जा सकते हैं। मुद्रण की सुविधा के लिए इस लिपि के वर्णों में कुछ सुधार की आवश्यकता है, उसका विचार किया जा रहा है।

भावना से इस लिपि को देवनागरी की बराबरी का पद प्रदान कर कर रखा है। सन् १९३७ से १९३९ तक प्रान्तीय स्वराज्य की दशा में, जहाँ कांग्रेस-सरकारें थी, वहाँ उनके द्वारा, तथा अन्यत्र मुसलमान अधिकारियों द्वारा उर्दू को यथेष्ट प्रोत्साहन दिया गया। यद्यपि यह सर्व-विदित है कि यह लिपि बहुत दूषित, तथा राष्ट्र-लिपि होने के अयोग्य है, वर्त्तमान अवस्थामें, इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती, जब तक कि मुसलमान शान्ति और गम्भीरता से विचार करके इस का मोह छोड़ने को तैयार न हों।

रोमन लिपि—कुछ साधारण आदमी ही नहीं, कभी-कभी तो विद्वान माने जाने वाले और नेता कहे जाने वाले व्यक्ति भी यह सोचते हैं कि रोमन लिपि को राष्ट्र-लिपि का स्थान दे दिया जाय; इस का प्रचार योरप अमरीका आदि अंगरेजी भाषा वाले देशों में बहुत अधिक है; भारतवर्ष में इस की स्वीकृति होने से यहाँ देवनागरी और उर्दू (फारसी) का विवाद भी न रहेगा। परन्तु ये सज्जन भूल जाते हैं कि रोमन लिपि हमारे अधिकांश बंधुओ के लिए नयी है। अदालतों की भाषा, सभ्यता की भाषा, और सरकारी पद-प्राप्ति की भाषा बनी रहने पर, तथा इस भाषा की शिक्षा के प्रचार में असंख्य धन स्वाहा किये जाने पर भी अभी तक दस हजार में से केवल १२६ आदमी अंगरेजी भाषा जान पाये हैं, जो कि रोमन लिपि में लिखी जाती है। विदेशी होने के अतिरिक्त, इस लिपि में यह बड़ा दोष है कि इसमें लिखा कुछ जाता है, और पढ़ा कुछ और जाता है। जहाँ जहाँ यह लिपि प्रचलित है, उन स्थानों में रोमन अक्षरों के उच्चारण समान नहीं है। यह ठीक है कि टर्की आदि कुछ राज्यों ने अरबी लिपि का परित्याग कर के रोमन लिपि को स्वीकार किया है परन्तु यह इस लिए नहीं कि रोमन लिपि सर्वाङ्ग-पूर्ण या वैज्ञानिक है, वरन् इस लिए कि यह लिपि

उन राज्यों की पूर्व प्रचलित लिपियों की अपेक्षा कुछ अच्छी है, और छपाने या टाइप करने में बहुत ही सुविधाजनक है। रोमन लिपि के उपर्युक्त स्वागत का कारण यह भी है कि यह उन राज्यों की लिपि है, जिन्हें संसार में राजनैतिक तथा आर्थिक प्रभुता प्राप्त है। नागरी लिपि के सर्व-गुण-सम्पन्न होने पर भी, स्वयं अपने देश में ही उपेक्षित होने का कारण हमारी पराधीनता है। इस लिपि के साथ वास्तविक न्याय तभी होगा; जब हम स्वराज्य-प्राप्त होंगे; तथा लोगों में निष्पक्ष विचार करने की क्षमता होगी।

दसवाँ परिच्छेद

राष्ट्रीय शिक्षा और साहित्य

"देश के अरु राष्ट्र के शुभ धर्म की दीक्षा मिले।
नित्य घर में और बाहर वह हमें शिक्षा मिले॥
जिससे हमें हो ज्ञान अपना और प्यारे देश का।
आदर्श भाषा, भाव अपने, और निज ही वेश का॥"

—हनुमत्प्रसाद जोशी

राष्ट्र के जीवन तथा उसके अस्तित्व का आधार साहित्य ही है। साहित्य में राष्ट्र के प्राण हैं। जिस अनुपात से साहित्य उन्नत होता है, उसी अनुपात से राष्ट्र भी जीवित रहता है। साहित्य का निर्माण, राष्ट्र का निर्माण है।

—शुकदेव प्रसाद

राष्ट्रीय शिक्षा

शिक्षा का महत्व सर्व-विदित है। यहाँ हमें राष्ट्रीय शिक्षा के ही सम्बन्ध में विचार करना है, जिससे राष्ट्रीय समस्याओं के हल होने

में महत्व-पूर्ण सहायता मिलती है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में लोगों का ध्यान तत्कालीन शिक्षा-पद्धति के दोषों की ओर आकर्षित हुआ। यह विचार किया जाने लगा कि देश में शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जिससे विद्यार्थियों के प्रत्येक कार्य और विचार में स्वावलम्बन और स्वाधीनता का भाव हो, वे अपने व्यवहार में जननी-जन्मभूमि के हित का ध्यान रखें। इन विचारों के परिणाम-स्वरूप यहाँ ऐसी संस्थाओं की स्थापना होने लगी, जो सरकारी नियन्त्रण से सर्वथा मुक्त रहें, राष्ट्रीय भावों से युक्त हों, और देश की सभ्यता की रक्षक, तथा औद्योगिक आवश्यकताओं की पूरक हों। इस विषय में विस्तार-पूर्वक हम अपनी 'भारतीय जागृति' पुस्तक में लिख चुके हैं। अस्तु, हमारी राष्ट्रीय शिक्षा-सस्थाओं का कार्य प्रशंसनीय होते हुए भी, उनका क्षेत्र तथा परिणाम बहुत कम रहा है। हाँ, इनके प्रयत्नों और प्रयोगों से यह बहुत-कुछ स्पष्ट हो गया कि भविष्य में हमारे शिक्षा-कार्य की दिशा क्या हो, क्या आदर्श रखा जाय, और किन-किन त्रुटियों से बचा जाय।

वर्धा शिक्षा योजना—सन् १९३७ ई० में प्रांतों में प्रजातन्त्रात्मक सरकारों की स्थापना हो जाने पर विशेषतया कांग्रेस-सरकारों ने शिक्षा-पद्धति में आमूल परिवर्तन करने का निश्चय किया। महात्मा गांधी की प्रेरणा से बुनियादी या आधार-भूत ('बेसिक') शिक्षा की योजना बनायी गयी। इसकी मुख्य बातें ये हैं—सब बालकों के लिए उनकी मातृभाषा में सात साल की मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध हो; शिक्षा का केन्द्र किसी प्रकार की उत्पादक दस्तकारी होनी चाहिए; शिक्षा के अन्य विषयों (भाषा, गणित, भूगोल,

इतिहास, विज्ञान और आलेख्य आदि) का सम्बन्ध यथा-सम्भव उपर्युक्त दस्तकारी से होना चाहिए ; इस दस्तकारी का चुनाव बालकों के वातावरण, और स्थानीय परिस्थिति को ध्यान में रख कर किया जाना चाहिए। प्रयोग के लिए कताई-बुनाई बुनियादी दस्तकारी मानी गयी। स्थान-स्थान पर बुनियादी-शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित की गयीं, और उनका कार्य बड़े उत्साह से किया जाने लगा था। परन्तु सन् १९३९ में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र देने के बाद इस ओर उपेक्षा की जाने लगी। आशा है, यह कार्य फिर अच्छी तरह किया जायगा।

ऐसी शिक्षा से हाथ और मस्तिष्क दोनों की शक्ति का विकास साथ-साथ होता है। बालकों के मिल-जुल कर काम करने से जात-पांत का बन्धन टूट जाता है, तथा सबके दिल में श्रम का आदर-मान बढ़ता है। राष्ट्र की आय की दृष्टि से यह लाभ है कि इस पद्धति से शिक्षा का कुछ खर्च निकल आने के अतिरिक्त, लोगों में धनोत्पादन की शक्ति बढ़ती है, और वे अपने खाली समय का उपयोग करने योग्य होते हैं। नागरिक-ज्ञान की शिक्षा से भावी नागरिकों को इस बात का अवसर मिलता है कि वे देश की समस्याओं को, तथा अपने कर्तव्यों और अधिकारों को समझें, और इस प्रकार सच्ची देशभक्ति का परिचय दें तथा प्रजातन्त्रीय भावनाओं का सम्यक् उपयोग करें। मातृ-भाषा द्वारा शिक्षा प्राप्त करने से विद्यार्थियों में विविध विषयों को भली भांति समझने, उनपर साफ और शुद्ध विचार करने, और अपने विचार दूसरों पर वार्तालाप अथवा लेख द्वारा प्रकट करने की योग्यता प्राप्त होती है, वे अपने राष्ट्र की भावनाओं तथा आकांक्षाओं से परिचित रहते हैं और तदनुसार राष्ट्रोत्थान में क्रियात्मक भाग ले सकते हैं।

धार्मिक शिक्षा—भारतवर्ष में अन्य अनेक देशों की भांति विविध

धर्मों और जातियों के आदमी रहते हैं; और, साथ ही प्रजातन्त्र की स्थापना का प्रयत्न हो रहा है। ऐसी दशा में किसी धर्म को यहाँ राज-धर्म ठहराना उचित नहीं है, और इसलिए राज्य की ओर से किसी विशेष धर्म की शिक्षा की व्यवस्था होना भी ठीक नहीं है। यदि राज्य द्वारा समस्त धर्मों की शिक्षा की व्यवस्था की जाने की बात कही जाय तो वह एक दुस्तर कार्य हो जाता है। हाँ, प्रत्येक धर्म वालों के, अपने अपने धर्म की शिक्षा देने की व्यवस्था करने में कोई आपत्ति नहीं है।

बहुत-से आदमी धार्मिक शिक्षा को लोगों में पारस्परिक द्वेष बढ़ाने वाली समझा करते हैं। निस्सदेह विविध धर्मों के कर्म-कांड में जनता का प्रायः मतभेद होता है, परन्तु उनके मूल सिद्धान्तों में विशेष भेद नहीं होता; भेद होता है, उन सिद्धांतों को कार्य-रूप में लानेवाले व्यक्तियों के हृदय में। हमें व्यक्तिगत भेद-भाव छोड़ कर उदार सिद्धान्तों का यथोचित प्रचार करना चाहिए। साथ ही हमें राष्ट्र-धर्म की भी विशेष शिक्षा देने की जरूरत है। 'राष्ट्र-धर्म' से हमारा अभिप्राय यह है कि हम बौद्ध, जैन, शाक्त शैव, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, किसी भी मत के अनुयायी क्यों न हों, एक जननी-जन्मभूमि के होने के कारण, सब भ्रातृभाव से रहना सीखें और स्वदेश-सेवा को अपना परम धर्म मानें।

इतिहास की शिक्षा—राष्ट्रीय शिक्षा में प्रत्येक विषय इस दृष्टि से पढ़ाया जाना चाहिए कि उसका राष्ट्रीय जीवन में उपयोग हो। अन्यान्य विषयों में इतिहास की शिक्षा की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। भारतवर्ष में, विशेषतया ब्रिटिश साम्राज्यवादी लेखकों द्वारा इतिहास को ऐसा रूप दिया गया है कि वह साम्प्रदायिक

द्वेष-वृद्धि का साधन हो गया है। उसे पढ़कर हिन्दू विद्यार्थी तो यह अनुभव करता है कि मानों उसके सामने ही उसके धर्म पर कुठाराघात हो रहा है, और, मुसलमानों में हिन्दू वीरों के गुणों का आदर-मान करने की भावना पैदा नहीं होती। यह ठीक है कि कुछ भारतीय शासकों ने समय-समय पर बड़ी भूल की, तथा अनुदारता का परिचय दिया। पर, क्या हम केवल छिद्रान्वेषी ही बने रहें? हमारे यहाँ ऐसी अनेक घटनाएँ हुई हैं, जिनसे हिन्दू-मुसलमानों के 'पारस्परिक प्रेम, उदारता और बंधु-भाव का विलक्षण परिचय मिलता है। आवश्यकता है कि हमारा इतिहास नवीन शैली से, शुभचिन्तक और सहानुभूति-युक्त लेखकों द्वारा लिखा जाय। यह समाचार आशाजनक है कि इस शुभ कार्य का प्रारम्भ तो हो गया है। परन्तु कहना नहीं होगा कि अभी तो पहले अनर्थकारी इतिहासों के प्रायश्चित-रूप से ही हमें बहुत शक्ति व्यय करनी पड़ेगी, तब जाकर कुछ जमा-खाते की बारी आवेगी।

घरों में शिक्षा—यह सर्व-विदित है कि बालकों की शिक्षा सबसे प्रथम घरों में होती है, तथा उनकी पहली अध्यापिका माताएँ ही होती हैं। निदान, बालकों के भविष्य की नींव माताएँ ही डालती हैं। यह उन्हीं पर निर्भर है कि बालकों के आदर्श कितने उच्च होंगे, तथा उनमें स्वावलम्बन और देशभक्ति आदि उत्तम गुणों का विकास किस हद तक होगा। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि स्वयं स्त्रियों के विचार बड़े उच्च हों। अस्तु, माता-पिता को चाहिए कि अपनी सन्तान को बाल्यावस्था से ही वीरता, देशभक्ति और उदारता की मनोहर कथा - कहानियाँ सुनावें, जिससे उनके कोमल हृदयों पर

अच्छा और चिरस्थायी प्रभाव पड़े।

प्रौढ़ शिक्षा—इसी प्रकार प्रौढ़ आयु वाले उन स्त्री-पुरुषों की राष्ट्रीय तथा राजनैतिक शिक्षा की व्यवस्था की आवश्यकता है, जो किसी संस्था में नियमित रूप से नहीं पढ़ सकते। उनके लिए सभाएँ, पुस्तिकाएँ, और समाचारपत्र आदि बहुत सहायक होते हैं। स्थान-स्थान पर रात्रि-पाठशालाओं की स्थापना, तथा पुस्तकालयों और वाचनालयों को खोले जाने की व्यवस्था होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक विचारशील राष्ट्र-प्रेमी का कर्त्तव्य है कि वह अपने-अपने क्षेत्र में जिन मित्रों, पड़ोसियों, सम्बन्धियों तथा गाँव और और नगर वालों से मिले, उनसे वार्तालाप तथा विचार विनिमय करके उन्हें देश की स्थिति और आवश्यकताओं का परिचय कराये, जिस से वे भी प्रसंगानुसार राष्ट्र सेवा में भाग लें। हर्ष का विषय है कि अब इस ओर अधिकाधिक ध्यान दिया जाने लगा है।

राष्ट्रीय साहित्य

साहित्य और राष्ट्र—साहित्य और राष्ट्र का घनिष्ट सम्बन्ध है। साहित्य का स्थान राष्ट्र-निर्माण में ठीक ऐसा ही है, जैसा जीव का शरीर में। जब साहित्य प्रबल है, तो राष्ट्र भी बलवान है, और जब साहित्य गिरी हुई दशा में है,तो राष्ट्र भी जर्जर है। जिस प्रकार जीव निकलजाने से शरीर मृतक हो जाता है, उसी भांति साहित्य के विनाश के साथ-साथ राष्ट्र भी जीवित नहीं रह सकता। भारतवर्ष की बात लीजिए जब यहाँ संस्कृत साहित्य का प्रबल प्रवाह था, तथा वेदों और उपनिषदों का डंका बज रहा था, तब यहाँ के महात्मा ऋषी, जगद्गुरु थे, राजा चक्रवर्ती थे, देश धन-धान्य-पूर्ण

था। पीछे साहित्य में उलट-फेर हुआ तो राष्ट्र में भी परिवर्तन होचला; पारस्परिक कलह और विलासिता ने घर कर लिया। तुलसी, कबीर, नानक आदि महात्माओं के उत्तमोत्तम ग्रन्थों ने, नवजीवन का संचार किया, तो यहाँ अनेक भक्त लाग हुए; वीर रस के साहित्य के प्रभाव से हमने विविध सकटों को झेलते हुए भी अपना अस्तित्व बनाये रखा। हाँ, फारिस की कविता के आधार पर यहाँ बाजारी लड़के लड़कियों को 'प्रेम रस' की गजलों ने जोर पकड़ लिया। लैला-मजनू, शीरीं-फरहाद, गुलबकावली और चन्द्रकान्ता आदि का नवयुवकों पर कुप्रभाव देखकर आज भी हृदय कांपता है। 'फूल खिलने भी न पाया था कि कली ही कुम्हला गयी' की कहावत चरितार्थ होती है। अंगरेजों के सम्पर्क में आकर हमने मिल, स्पेंसर और वर्क आदि लेखकों के साहित्य का अवलोकन किया तो स्वतन्त्रता के भावों को उत्तेजना मिली और विज्ञान की ओर हमारी रुचि बढ़ी। परन्तु अगरेजी साहित्य से हममें कुछ दूषण भी आ गये। हमारा अपना भेष नहीं रहा, अपनी भाषा न रही, अपने विचार न रहे। अंगरेजों की देखा-देखी, फेशन का भूत हमारे सिर पर सवार है और कितने-ही आदमी नाममात्र को हिन्दुस्तानी रह गये हैं।

अन्य देशों के उत्थान और पतन में भी वहाँ के साहित्य का बड़ा भाग रहा है। योरप के इटली, फ्रांस, जर्मनी इगलैंड इत्यादि देशों के इतिहास पढ़िए; बस, ज्ञात हो जावेगा कि जितनी-जितनी उन्नति इन देशों के साहित्य में होती गयी, उतने ही ये वृद्धि और शक्ति को प्राप्त करते गये। एशिया में जापान के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसा ही है। इसी प्रकार जब तक यूनान, मिश्र, फारिस, इत्यादि देशों के निवासी

साहित्य की ओर से असावधान नहीं हुए, ये देश संसार में शिरोमणि बने रहे। जब से इनके साहित्य को धक्का लगा, उसमें मलिनता के विचार भरने प्रारम्भ हुए, अथवा जब उसकी गति रुक गयी, तब से, अनेक देशों का तो चिन्ह भी न रहा। कुछ का आधुनिक काल में पुनरुद्धार हुआ है, तो वह नये रूप में, तथा नवीन साहित्य के बल पर।

अन्यान्य देशों में, हमारे लिए आयर्लैंड का उदाहरण बहुत विचारणीय है। इंगलैंड ने वहाँ का साहित्य नष्ट कर अपने साहित्य का प्रचार किया, इससे वहाँ के निवासी अपनी संस्कृति गवाँ कर इंगलैंड के दासानुदास होने में अभिमान करने लगे थे। पराधीनता-काल में आयर्लैंड ने क्या-क्या कष्ट न सहे! अन्ततः कुछ दूरदर्शी नेताओं ने अपनी मातृभूमि के उद्धार का बीड़ा उठाया, उन्होंने देश में अपनी मातृ-भाषा 'गैलिक' तथा राष्ट्रीय साहित्य के प्रचार को प्रमुख स्थान दिया। घर-घर में इसका प्रचार किया गया। इसी से वहाँ मातृभूमि के लिए बलिदान होनेवालों का अवतरण हुआ। वीर मैक्स्विनी ने ७१ दिन तक अनशन करके स्वदेश-हित अपने प्राण सहर्ष विसर्जन कर दिये। वह यह कह गया, कि "मैं उस साहित्य का पुजारी हूँ, जिसने मुझे सत्पथ पर दृढ़ता-पूर्वक चलने के लिए प्रभावित किया है; मैं सांसारिक मनुष्यों से भय नहीं खाता। ऐ शैतानी सरकार! मैं तेरी जड़ में वह आग जलाऊँगा, जिसे कोई बुझा न सकेगा।" उसका कथन सत्य प्रमाणित हुआ, और राष्ट्रीय-साहित्य-पुजारी डी॰ वेलेरा ने आयर्लैंड को स्वतन्त्र कर दिया।

राष्ट्र-निर्माण में साहित्य-सेवियों का स्थान—जिस प्रकार किसी विशाल भवन को निर्माण करने के लिए अनेक मनुष्यों की आवश्यकता होती है, और तरह-तरह की सामग्री जुटानी पड़ती है, उसी प्रकार राष्ट्र-निर्माण में भी अनेक बातों की आवश्यकता होती है, जैसे एकता, सहन-शक्ति, वीरता, धैर्य, विद्वत्ता इत्यादि। परन्तु, जिस प्रकार समस्त भवन-सामग्री तब ही काम देती हैं जब वह किसी चतुर मिस्त्री के आदेशानुसार वे यथा-स्थान लगायी जावे, इसी प्रकार राष्ट्रीयता के साधन भी तभी लाभदायक होते हैं, जब कोई इन के प्रयोग करने की विधि बतलानेवाला हो, और, यह काम निस्सन्देह चतुर साहित्य-सेवियों और योग्य सम्पादकों का है; वे हमें अपनी पुस्तकों तथा लेखों द्वारा हमारा कर्त्तव्य तथा उसको पालन करने की विधि बतला सकते हैं। जिस प्रकार कोई चतुर वैद्य हीन-से-हीन रोगी को चंगा कर सकता है, वैसे ही चतुर साहित्य-सेवी गिरे-से-गिरे राष्ट्र को उठा सकता है, देश में हलचल मचा सकता है, जनता की रुचि में परिवर्तन कर सकता है। इसलिए राष्ट्र निर्माण में साहित्य-सेवियों का वही स्थान है जो घातक बीमारी में चतुर वैद्य का, विशाल भवन-निर्माण में होशियार मिस्त्री का, तथा राज-शासन में योग्य नीतिकारों का है। हमारे देश में सच्चे साहित्य-सेवियों की न्यूनता है। यही कारण है कि राष्ट्र-निर्माण में इतना विलम्ब हो रहा है। यह ठीक है कि अभी जन-साधारण की रुचि राष्ट्रीय साहित्य की ओर कुछ कम है, परन्तु ज्यों-ज्यों अच्छे साहित्य-सेवी तथा प्रचारकों की वृद्धि होगी, जनता की अभिरुचि में भी परिवर्तन होता जावेगा।

खेद है, कितने ही लेखक या कवि कहलाने वाले व्यक्ति अपनी लेखनी का उपयोग एकमात्र धनोपार्जन समझते हैं। जिस 'साहित्य' के अधिक-से-अधिक ग्राहक मिलने की सम्भावना होती है, उसकी ही रचना करने के लिए ये कटिबद्ध रहते हैं, चाहे उससे समाज या राष्ट्र कितनी ही रसातल को जाय। ये लोग अपने क्षुद्र स्वार्थ-वश ऐसा धंधा करते हैं, जिससे नवयुवकों में निर्भीकता, साहस और कष्ट-सहिष्णुता के भावों का उदय नहीं होता वरन उनमें विलासिता, नजाकत, और दुश्चरित्रता बढ़ती है। हमारी स्पष्ट सम्मति है कि साहित्य के नाम पर आज-दिन जो प्रकाशन हो रहा है, उसका खासा हिस्सा नष्ट किये जाने योग्य होता है।

साहित्य किस ढंग का होना चाहिए?—इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जो पुस्तक लिखी जाय, उसमें देश-काल का विचार अवश्य रखा जावे। भारत की दशा में पहले से बहुत परिवर्तन हो गया है; अब यहाँ पर एक ही जाति, अथवा एक ही धर्म नहीं है। हिन्दू हैं, मुसलमान हैं, ईसाई, पारसी आदि हैं; इन सबका ही ध्यान रख कर हमें भारतीय राष्ट्र बनाना है, किसी एक अङ्ग-विशेष का नहीं। यह तब ही हो सकता है जब हमारा साहित्य परस्पर मेल बढ़ाने वाला हो, वाद-विवाद मिटाने वाला हो, तथा ऐसे विषयों से परिपूर्ण हो, जो समस्त देश के प्रति लाभदायक हों। लेखक को चाहिए कि ऐसे ग्रन्थों की रचना करे, जिनसे शिल्प और विज्ञान की उन्नति हो, व्यापार बढ़े, कल-कारखानों की अधिकता हो, जिससे देश का धन देश में ही रहे, कृषि-विद्या में वृद्धि हो, पशु-पालन तथा पशु-रक्षा का ज्ञान हो, जिससे सब लोग अपना पेट भर कर दूसरों की भी क्षुधा मिटा सकें, और दूध घी आदि के सेवन से

बल और पुष्टि प्राप्त करें।

हमारी पुस्तकें उच्च विचारों को बढ़ाने वाली हों; तथा हमें उच्च आदर्श पर ले-जानेवाली हों, जिनसे राष्ट्र-धर्म, अर्थशास्त्र, विज्ञान तथा राजनीति की, और नियमानुकूल व्यवहार की शिक्षा मिले, जो हम को देशभक्ति के रंग में रंगें, स्वाधीनता-देवी के दर्शन करावें, जिनको पढ़कर हम शुद्धाचार वाले बनें, त्याग के धर्म को जानें, दूसरे के स्वत्वों की रक्षा करना अपना धर्म समझें। संक्षेपतः ग्रन्थ ऐसे होने चाहिएँ, जिनके अनुशीलन और मनन से हम अपने देश की यथेष्ट उन्नति करते हुए अपनी राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने में सफल हों।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

राजनैतिक एकता

[प्रांतीयता, मुसलिम राष्ट्र, और देशी राज्य]

हम हृदय से और बल के साथ यही चाहेंगे कि भारतवर्ष अखण्ड रहे, रासकुमारी से हिमालय के उच्च शिखर तक, अरबी समुद्र के भारतीय तट से ब्रह्मपुत्र के पूर्वीय कगारों तक, वह अपनी समस्त सभ्यता, सम्पदा और विभूति के साथ अक्षुण्ण रहे, और संसार के इस समस्त भू-खण्ड पर एक ही राष्ट्रीय झण्डे और एक ही राष्ट्रीय भावना का आधिपत्य हो।

—प्रताप

प्रत्येक राष्ट्र के लिए राजनैतिक एकता अत्यन्त आवश्यक है। भारतवर्ष में, इन विषय में मुख्य बाधाएँ निम्नलिखित हैं:—

(१) लोगों में प्रांतीयता की ऐसी भावना, जिससे वे अन्य प्रांत वालों के प्रति यथेष्ट सहानुभूति और सहयोग का भाव नहीं रखते (२) मुसलिम साम्प्रदायिकों की, यहाँ मुसलिम राष्ट्र बनाने की भावना और (३) संघ-शासन में, देशी राज्यों का केन्द्रीय सरकार के अधीन न रहने तथा अनुत्तरदायी शासन जारी रखने की मनोवृत्ति। इन बातों पर क्रमशः विचार किया जाता है।

प्रांतीयता

वर्त्तमान अवस्था में राष्ट्रीयता का विकास अच्छी तरह न होने के कारण अनेक बार साधारण आदमी ही नहीं, शिक्षित और विद्वान् कहे जाने वाले व्यक्ति भी संकीर्ण प्रांतीयता के भावों में ग्रस्त पाये जाते हैं। परिणाम-स्वरूप कहीं बंगाली-बिहारी समस्या है, कहीं बङ्गाली-मारवाड़ी, कहीं महाराष्ट्री-हिन्दुस्तानी, और, कहीं तामिल-तेलगू आदि। इन सब समस्याओं को हल करने के लिए आवश्यक है कि हमारे बन्धु इस बात को भली भांति हृदयगम करलें कि राष्ट्रीय एकता को बढ़ाने तथा बढ़ाये रखने के लिए संकुचित प्रांतीयता को दबाये रखना चाहिए। हाँ, इस बात का ध्यान रखते हुए, प्रान्त की उन्नति में भरसक योग देना सर्वथा उचित और उपयोगी है। प्रांतीय प्रश्नों पर विचार करते हुए हम कभी राष्ट्रीय दृष्टि-कोण की विस्मृति या अवहेलना न करें। जो व्यक्ति अपने प्रान्त से भिन्न, किसी अन्य प्रान्त में रहते हों, उनका कर्त्तव्य है कि वे उस प्रान्त की भाषा को सीखें, वहाँ की संस्कृति और संस्थाओं का आदर करें, एवं वहाँ के निवासियों से मिल-जुल कर रहें, तथा पारस्परिक स्नेह और सद्भावना-पूर्वक उस प्रांत के सामाजिक, आर्थिक, और राजनैतिक आदि हितों

के साधन में योग दें। प्रान्त के निवासियों का भी कर्त्तव्य है कि वे अन्य प्रांत से वहाँ आकर बसे हुए व्यक्तियों के प्रति किसी प्रकार का द्वेष-भाव न रखें; वे इस बात को न भूलें कि ये अन्य प्रांत वाले व्यक्ति भी उसी राष्ट्र के तो हैं, जो हम सब का भक्ति-भाजन है।

इस विषय पर कुछ अधिक प्रकाश डालने के लिए बिहार के उदाहरण पर विचार करना उचित होगा। पहले यह प्रान्त बंगाल का ही भाग था। उस समय बिहारी, शिक्षा आदि में बहुत पिछड़े रहे; उन्हें सरकारी पद या नौकरियाँ भी कम मिलीं। बिहार के पृथक् प्रान्त बन जाने पर उन्हों ने क्रमशः शिक्षा आदि में उन्नति की, और अपने प्रान्त में यथेष्ट सरकारी नौकरियां प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे। इससे, वहाँ आकर बसे हुए बंगालियों के स्वार्थ में बाधा पहुँचने लगी। बस, बंगाली-बिहारी समस्या उपस्थित होगयी। अपने शासन-काल में (१९३७-३९ में) कांग्रेस की कार्यसमिति ने मान्यवर श्री० राजेन्द्रप्रसाद जी को इस विषय की जाँच करने के लिए नियुक्त किया, और उनकी रिपोर्ट पर विचार करके एक प्रस्ताव स्वीकार किया; उस की मुख्य-मुख्य बातें निम्नलिखित हैं:—

(१) भारत को एक सुदृढ़ स्वतंत्र राष्ट्र बनाने के लिए यह आवश्यक है कि पृथक्करण तथा संकुचित प्रांतीयता की प्रवृत्तियों को दबाया जाय। पर साथ ही, नौकरियों तथा इस प्रकार के अन्य विषयों में प्रांत के आदमियों की माँग की उपेक्षा नहीं की जासकती। (२) नौकरियों का बँटवारा करते समय देश के अन्य भागों के योग्य उम्मीद-वारों के लिए रुकावट न रखी जाय, जहाँ तक ऊँची नौकरियों में भर्ती करने और विशेषज्ञों का सवाल है; लेकिन (क) प्रांत के विभिन्न सम्प्रदायों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व ज़रूर मिलना चाहिए। (ख) पिछड़े हुए

निवासियों को अधिक-से-अधिक प्रोत्साहन दिया जाय, जिससे वे राष्ट्र के कार्यों में पूरा भाग ले सकें। (ग) तरजीह देने का निर्णय प्रांतीय सरकारों द्वारा पूर्व निश्चित नियमों के अनुसार हों, जिससे पक्षपात न किया जा सके। (३) जहाँ तक बिहार का सम्बन्ध है, बिहारियों और इस प्रांत में पैदा हुए बंगला-भाषियों तथा 'डामिसाइल्ड' (बसे हुए) बंगालियों में भेद-भाव न रखा जाय। नौकरी तथा अन्य मामलों में इनके साथ समान व्यवहार किया जाना चाहिए। (४) बसे हुए होने का प्रमाण इस बात से मिलेगा कि उम्मीदवार ने इस प्रान्त का अपना घर बना लिया है या नहीं; वह कितने दिन प्रान्त में रह चुका है, प्रान्त में उसका मकान या और तरह की जायदाद है या नहीं। इस प्रान्त में जन्म होना या लगातार दस साल रहना 'डोमिसाइल्ड' साबित करने के लिए काफी है। (५) प्रान्त में व्यवसाय-व्यापार करने के लिए किसी पर रोक न रहे। यह वांछनीय है कि कारखाने पड़ोस के लोगों को नौकरी देकर अपना संपर्क बढ़ावें। (६) जब प्रान्त की शिक्षा-संस्थाओं में स्थान सीमित हों तो विभिन्न सम्प्रदायों के व्यक्तियों के हिस्से सुरक्षित रखे जायँ; हाँ, प्रान्त के लोगों को तरजीह दी जासकती है। (७) बिहार के उन क्षेत्रों में, जहाँ बंगला ज्यादा बोली जाती है, प्राइमरी स्कूलों में बंगला को शिक्षा का माध्यम बनाया जाय; वहाँ हिन्दी-भाषा-भाषियों की संख्या पर्याप्त होने पर हिन्दुस्तानी पढ़ाई की भी व्यवस्था हो। इसी प्रकार जहाँ बहुमत गैर-बंगालियों का हो, वहाँ हिन्दुस्तानी के के साथ ही बंगला की पढ़ाई का भी प्रबंध हो। उच्च कक्षाओं की पढ़ाई हिन्दुस्तानी के जरिये हो, लेकिन बंगला की पढ़ाई का भी इन्तजाम हो। स्थानीय जनता की माँग के मुताबिक उसकी भाषा की पढ़ाई का प्रबन्ध होना चाहिए।

समिति ने यह सलाह दी कि अन्य प्रांतों में भी, इन नियमों को ध्यान में रख कर, कार्य किया जाय। कहना नहीं होगा कि समिति ने गम्भीरता और निष्पक्षता से काम लिया है। उसने प्रान्त-हित के साथ

राष्ट्र-हित का सामंजस्य किया है; प्रान्तवासियों के अधिकार सुरक्षित रखते हुए भी बाहर वालों के लिए कोई असुविधाजनक बात नहीं की है। आशा है, इसी प्रकार विविध प्रान्त वाले अपना दृष्टि-कोण ऐसा ही रखेंगे, और समिति का निर्णय उनके लिए उचित पथ-प्रदर्शक होगा।'

भाषा या संस्कृति आदि के आधार पर प्रान्तों के पुनर्विभाजन तथा नये प्रान्तों की सृष्टि की माँग बढ़ती जाती है। सन् १६३५ ई० के शासन विधान से भी लोगों की प्रांतीय भावना को प्रोत्साहन मिला है। यदि नियमित सीमा तक इसकी वृद्धि हो, राष्ट्र-हित को आखों से ओझल न किया जाय तो यह बुरी नहीं, इससे लाभ ही हो। प्रांत के आदमी अपने यहाँ के प्रश्नों को हल करने में क्षुद्र साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से काम लेना छोड़ दें तो हिन्दू-मुसलिम आदि समस्याओं का हल होने में सहायता मिले। बंगाल के मुसलमान अपने आपको पंजाब या सिंध के मुसलमानों की अपेक्षा बंगाल के हिन्दुओं के निकट समझें, और उनसे मिलकर बंगाल की प्रगति में यथेष्ट भाग लें। इसी प्रकार अन्य प्रांतों के सब आदमी प्रांतीय एकता का अनुभव करते हुए प्रांत की सेवा तथा उन्नति करना अपना कर्त्तव्य समझें; हाँ प्रत्येक प्रांत भी अन्य प्रांतों एवं भारतीय राष्ट्र के समुत्थान में समुचित सहायक होने में तत्पर रहे। ऐसे उन्नत प्रांतों का संगठन, संघ-निर्माण के लिए, कैसा कल्याण-कारी हो!

वर्त्तमान अवस्था में बहुधा एक प्रांत के आदमी दूसरे प्रांत वालों के गुणों का इतना आदर नहीं करते, जितना उनके दोष निकालने के इच्छुक रहते हैं। प्रायः आदमी यह कहते पाये जाते हैं, कि उस प्रांत

के आदमी तो बड़े बुद्धू होते हैं, अमुक प्रांत वाले बड़े कंजूस हैं, या झगड़ालू हैं, उस प्रांत वालों में घमंड बहुत है, इत्यादि। ये बातें हमारी क्षुद्रता सूचित करने वाली हैं। जब तक ऐसा वातावरण रहेगा हम संयुक्त राष्ट्र का निर्माण कैसे कर सकते हैं! आवश्यकता है कि हम एक-दूसरे के भावों और विचारों को जानने और समझने का प्रयत्न करें। इस समय तो राष्ट्रीयता का दम भरनेवाले बन्धुओं में भी ऐसे कितने हैं जो दो से अधिक प्रांतों की भाषा जानते हों, तथा ऐसे जीवन, खान-पान और रहन-सहन के अभ्यस्त हों कि अन्य प्रांतों में जाकर उन्हें कुछ असुविधा तथा अनोखेपन का अनुभव न होता हो? बहुधा हमें दूसरे प्रान्तों के साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अंग-रेजी लेखकों का आश्रय लेना पड़ता है!

आवश्यकता है, कि प्रत्येक प्रान्त अपनी भाषा, संस्कृति और साहित्य आदि की उन्नति करता हुआ भी कम-से-कम अपने निकटवर्ती प्रान्तों से सम्यक् आदान-प्रदान करता रहे; आदमी आपस में समागम और विचार-विनिमय करने का, एक दूसरे का रहन-सहन तथा भाषा और व्यवहार आदि जानने का, यथेष्ट अवसर निकालें। हम देश के किसी भी भाग में चले जायँ, हमें वहाँ विभिन्नता या पृथकता का बोध न हो, हम वहाँ के निवासियों से भली भाँति हिल-मिल सकें और उनके सुख-दुख में भागी हो सकें। प्राचीन काल में, इस देश में तीर्थ-यात्रा आदि से, राष्ट्रीयता के भावों के प्रचार में बड़ी सहायता मिलती थी। अब उसका रूप बदल जाने से वह वैसी लाभकारी नहीं रही। अब आदमी रेल आदि द्वारा सहस्रों मील की यात्रा कुछ घंटों में कर लेते हैं, उन्हें मार्ग के स्थानों के निवासियों के जीवन का कुछ अनुभव नहीं

होता। उनकी तीर्थ-यात्रा से उनकी एक धार्मिक भावना की पूर्ति हो जाती है, परन्तु राष्ट्रीय दृष्टि से उसका कुछ उपयोग नहीं। यही कारण है कि विशेषतया उत्तर और दक्षिण भारत के निवासियों को एक-दूसरे की संस्कृति आदि के सम्बन्ध में आवश्यक ज्ञान नहीं है। कुछ वर्ष हुए, श्री० देवीदासजी गाधी ने मदरास-हिन्दी-प्रचार-सभा के द्वारा एक ज्ञान-यात्री-दल की आयोजना करके सर्वसाधारण के सामने एक अनुकरणीय दृष्टात उपस्थित किया था। आवश्यकता है कि प्रत्येक प्रान्त में ऐसे दलों का आयोजन हो, जो समस्त देश का भ्रमण करें, भिन्न-भिन्न प्रान्तों के दो-तीन शहरों के अतिरिक्त पाच-सात गांवों में भी ठहरें, विविध स्थानों की संस्कृति का अध्ययन करें, और एकता स्थापित करने का प्रयत्न करें। इन दलों में ऐसे सज्जन रहें, जो राष्ट्र-भाषा हिन्दी जानते हों, अथवा यात्रा आरम्भ करने से पूर्व उसे सीख लें। इनके द्वारा अन्तर्प्रान्तीय सहयोग की वृद्धि में अच्छी सहायता मिलेगी।

मुसलिम राष्ट्र

कुछ हिन्दू अपने प्राचीन गौरव को स्मरण कर हिन्दू-राज्य-स्थापना की बात किया करते हैं, तो मुसलमान अपने बादशाहत के दिनों को याद करके, तथा बाहर के मुसलिम राज्यों का विचार करके, भारतवर्ष के कुछ भागों का 'मुसलिम राष्ट्र' बनाने का स्वप्न देखा करते हैं। उपर्युक्त हिन्दुओं को बहुजन समाज का समर्थन नहीं मिलता, परन्तु मुसलमान तो अपनी कल्पना को चरितार्थ करने के लिए आन्दोलन करने से नहीं चूकते।

कई मुसलिम नेता समय-समय पर सीमा प्रान्त को मुसलमानों के सुपुर्द करने के पक्ष में रहे हैं। स्व० मौलाना मोहम्मदअली का मत

था कि पश्चिमोत्तर-सीमा-प्रान्त के निवासियों को आत्म-निर्णय का अधिकार रहे; वे चाहें तो अफगानिस्तान से मिल जायँ, और चाहें तो हिन्दुस्तान से मिले रहें। कुछ मुसलमानों ने उस प्रान्त सम्बन्धी जाँच-कमीशन के सामने गवाही देते हुए यह इच्छा प्रगट की थी कि पेशावर से आगरे तक एक रेखा खींच दी जाय और रेखांतर्गत क्षेत्र मुसलमानों के हवाले कर दिया जाय। कुछ साम्प्रदायिक मुसलमानों का कहना है कि पंजाबकी तरफ का सारा भारतवर्ष मुसलिम-संस्कृति-प्रधान हो गया है, पंजाब, कश्मीर, पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत, बलोचिस्तान और सिंध में मुसलमान अधिक संख्या में बसते हैं अतएव इन सब को एक में मिलाकर, 'पाकिस्तान' नाम रखकर, एक पृथक् मुसलमान राष्ट्र बना दिया जाय।* इन बातों में कुछ तत्व नहीं है। इनसे कहनेवालों की अल्पज्ञता और राजनीति-ज्ञान-शून्यता प्रमाणित होती है।

यही बात तो कही जाती है न कि सरहदी लोग चाहें तो हिन्दुस्तान के साथ रहें, और न चाहें तो न रहें। अगर वे यह निर्णय करते हैं कि हम हिन्दुस्तान के साथ रहेंगे तब तो कोई बात नहीं; साथ बने रहें। अगर वे इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि हम हिन्दुस्तान के साथ न रहेंगे, तो ऐसी दशा में हम उनसे केवल यह कहेंगे कि आप मेहरबानी करके हमारी सरहद खाली कर दीजिए और जहाँ आपका जी चाहे, तशरीफ ले जाइए। हम उन्हें जबर्दस्ती नहीं रोकेंगे। हम यहाँ हिन्दुस्तानी हिन्दू मुसलमान लाकर बसा लेंगे। सरहदी मामले इसी तरह से तय होते हैं। हम मुल्क का यह हिस्सा तो छोड़ नहीं सकते। अगर सरहदी लोग हिन्दुस्तानी बनकर और हिन्दुस्तान के होकर यहाँ रहना पसन्द नहीं करेंगे, तो हम उन्हें दूसरी जगह पहुँचा देने में मदद भी देंगे। किसी

*इसी प्रकार भारतवर्ष के पूर्वोत्तर में बंगाल-आसाम को भी 'पाकिस्तान' बनाने की बात कही जाती है

दशा में भी, हम अपनी सरहद पर आँच न आने देंगे।

(पिछले) योरपीय महायुद्ध के बाद,ग्रीस और टर्की का झगड़ा इसी तरह तय हो चुका है। पश्चिमी थ्रेस, एशिया-माइनर, मेसीडोनया, और पूर्वी थ्रेस आदि स्थानों में ग्रीक और मुसलमान नागरिकों की ऐसी खिचड़ी-सी थी कि उसका निपटारा, सिवा स्थान-परिवर्तन के और किसी तरह हो ही नहीं सकता था। एशिया माइनर में ग्रीक और मुस्लिम जनता रहती थी। टर्क स्वभावतः टर्की के साथ रहना चाहते थे। ग्रीक लोग ग्रीस के शासन के लिए लालायित थे। दोनों जातियाँ सन्तुष्ट कैसे होतीं? एशिया-माइनर विभाजित नहीं किया जा सकता था; क्योंकि ग़ाज़ी मुस्तफ़ा की तलवार उसकी रक्षा कर रही थी। अन्त में राजनीतिज्ञों ने बाशिन्दों की अदलाबदल-बदौवल की बात सोच निकाली। उसके फल स्वरूप अब एशिया-माइनर में, जहाँ पहले ग्रीकों की एक ख़ासी संख्या थी, शायद दस प्रतिशत भी ग्रीक लोग नहीं हैं। केवल वही ग्रीक वहाँ रह गये हैं जो वहाँ रहना चाहते हैं। पूर्वीय थ्रेस में १६१२ के पहले ग्रीक, बलगेरियन, मुसलमान, आरमीनियन, आदि कई जातियाँ रहती थीं। लड़ाई के बाद, उसी स्थान में जहाँ पहले टर्क ३६ फीसदी थे, अब वे लोग ६९ फीसदी हैं। ग्रीक और आरमीनियन का वहाँ नाम भी नहीं रह गया। यह तो टर्की का हाल हुआ। ग्रीस और पश्चिमी थ्रेस में भी ऐसे ही चमत्कार हुए।

इन सब उदाहरणों के देने का मतलब सिर्फ इतना ही है कि जहाँ ऐसी उलझन आ पड़े, वहाँ मुल्कों का विभाजन करने के बजाय, आबादी के अदल-बदल का सिद्धान्त काम में लाते हैं। ऐसे मामलों में आत्म-निर्णय और व्यक्तिशः सम्मति के अर्थ सिर्फ इतने ही होते हैं, इस से अधिक कदापि नहीं। इसलिए जो महानुभाव हिन्दुस्तान के सरहद निवासियोंकी स्वतंत्रता के हामी हैं, उन्हें इस नवीन योजना पर ध्यान देने की कृपा करनी चाहिए। ['प्रताप' ता० २९-९-२९ के आधार पर।]

पाकिस्तान के सम्बन्ध में बहुधा आत्म-निर्णय या स्वभाग्य-निर्णय के

सिद्धान्त की दुहाई दी जाती है। यह सिद्धान्त पिछले योरपीय महायुद्ध के समय से विशेष रूप से जनता के सामने आया है। इस सिद्धान्त का आशय यह है कि प्रत्येक देश को अपनी इच्छानुसार अपना शासन करने का अधिकार होना चाहिए, कोई दूसरा राष्ट्र उस पर, उसकी इच्छा के विरुद्ध, शासन न करे। भारतवर्ष भी स्वभावतः यह अधिकार चाहता है। परन्तु स्मरण रहे कि आत्मनिर्णय का सिद्धान्त सम्पूर्ण देश के लिए ही ठीक है, उसके भिन्न-भिन्न भागों, जातियों या सम्प्रदायों के लिए इस का प्रयोग किया जाना अनुचित है, इससे परिस्थिति बहुत चिन्तनीय होजाती है। भारतवर्ष में पाकिस्तान की भावना संक्रामक रोग की तरह है। इसने सिक्खस्तान, और अछूतस्तान आदि की कल्पना को जन्म देदिया है। पाकिस्तान का सिद्धान्त मानने से केन्द्रीय सत्ता उत्तरोत्तर निर्बल हो जायगी, और भारतवर्ष एक सबल राष्ट्र नहीं रह सकेगा।

जब से भारतवर्ष में संघ शासन स्थापित करने का विचार होने लगा है, कुछ मुसलिम नेता यह कहने लगे हैं कि देश के जिन भागों में मुसलमान बहुसंख्यक है, उनका एक पृथक् संघ बना दिया जाय। यह बात राष्ट्र-विघातक होने के अतिरिक्त कितनी अव्यावहारिक है, यह सोचने का ये नेता, कष्ट नहीं उठाते। "सिंध, बलोचिस्तान और सीमाप्रान्त आज दिन भी दिवालिया प्रान्त हैं। केन्द्रीय खजाने से उन्हें जो करोड़ों रुपये की सहायता मिलती है, उसी के बल पर उनका घरेलू काम किसी तरह चलता है। बँटवारा हो जाने पर मुसलिम संघ के इन प्रान्तों को केन्द्र से सहायता नहीं मिल सकेगी। इधर तो आमदनी बंद हो जायगी, उधर फौजी

खर्च का बहुत बड़ा बोझ मुसलिम संघ के प्रान्तों के मत्थे पड़ जायगा। यह विचारणीय बात है कि क्या मुसलिम संघ आर्थिक दृष्टि से हिन्दुस्तान की पश्चिमी और पूर्वी सीमाओं की रक्षा का भार निकट भविष्य में उठा सकेगा।"

श्री० जगदीशप्रशाद जी अग्रवाल एम०-ए० ने ठीक कहा है कि आज का संसार तो बड़े-बड़े संघों का है, तब भारत में ही एकता को क्यों तोड़ा जा रहा है। ......आज अगर हिन्दू ज्यादह संख्या में सारे भारत की आजादी के लिए लड़ रहे हैं तो मुसलमानों को कल अपनी आजादी के लिए लड़ना पड़ेगा। तब क्या उनका आजादी पाना सरल होगा? देश में इस प्रकार के संघ बन जाने से एक संघ को दूसरे से लड़ाने की कल्पना की जासकती है। सारा देश एक महान् बालकन देश बन जायगा।

सन् १९४२ में ब्रिटिश युद्ध-मंत्रिमंडल की ओर से सर स्टेफर्ड क्रिप्स भारतवर्ष के शासन की एक योजना लेकर यहाँ आये थे; इसे साधारण बोलचाल में 'क्रिप्स योजना' कहा जाता है। इसमें पाकिस्तान की नीति मान्य की गयी थी, बशर्ते कि प्रान्तों के जनमत से वह स्वीकृत होजाय। किन्तु श्री० जिन्ना की माँग यह रही कि बृटिश सरकार युद्धोपरान्त पाकिस्तान स्थापित करने की अभी से गारंटी करदे, और उसके सम्बन्ध में जनमत केवल मुसलमानों का ही लिया जाय। म० गांधी को पाकिस्तान के सम्बन्ध में तीन आशंकाएँ हैं—(१) इस योजना से देश के कुछ भाग मातृभूमि से पृथक् हो जायँगे, और अपना स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित करलेंगे। (२) किसी भी क्षण में स्वतंत्र पाकिस्तान भाग अपनी ही मातृभूमि तथा पितृ-राष्ट्र के विरुद्ध युद्ध घोषित

कर सकेंगे; और (३) अपनी दुरभि संधियों तथा षड्यंत्रों की पूर्ति के लिए बाह्य शक्तियों से प्रकट तथा गुप्त समझौते एवं संधि आदि कर लेंगे, जिससे कालान्तर में देश की स्वाधीनता पुनः संकट में पड़ जायगी। महात्माजी का यह मत केवल कांग्रेस का, या हिन्दुओं का, ही मत नहीं है, वरन् असंख्य विचारशील मुसलमान, सिक्ख, पारसी, ईसाई, और एंग्लो-इंडियन आदि का भी है।

अस्तु, साम्प्रदायिकता के भावों को दूर करने के विषय में पहले लिखा जा चुका है। आवश्यकता है कि कथित नेता अपनी नेतागिरी से वंचित किये जायँ और मुसलिम जनता इनके द्वारा अब अधिक समय गुमराह न होकर भारतवर्ष की राजनैतिक एकता की प्राप्ति में दत्तचित्त हो।

देशी राज्य

भारतवर्ष एक देश है, इसे एक राष्ट्र बनाना हमारा ध्येय है। (इसके कुछ भागों का एक पृथक् 'मुसलिम संघ' बनाये जाने का अनौचित्य ऊपर बताया जाचुका है)। इसके सैकड़ों देशीराज्यों में अनुत्तरदायी शासन प्रचलित रहना और उनका राष्ट्रीय आन्दोलन से विमुख होना कैसे सहन किया जासकता है!

भारतवर्ष में देशी राज्यों की संख्या लगभग छः सौ है। इनमें से कितने ही तो मामूली गाँव सरीखे हैं। अधिकांश राज्यों का क्षेत्रफल जनसंख्या और आय अच्छे शासन की सुविधा के लिए पर्याप्त नहीं है। पिछले दिनों अ० भा० देशी-राज्य-लोक परिषद् ने यह प्रस्ताव पास किया था कि बीस लाख से कम आबादी, और पचास लाख रुपये से कम वार्षिक आय वाले राज्यों को ब्रिटिश भारत के साथ मिला देना चाहिए या उन्हें आपस में मिलाकर एक बड़ी एकाई बनायी जानी चाहिए।

यदि यह प्रस्ताव कार्य में परिणत हो जाय तो केवल इक्कीस ही राज्य रह जायँ; और शेष सबका निर्वाण हो जाय। परन्तु भारतीय राष्ट्र की एकता के लिए यह भी आवश्यक है कि यह इक्कीस राज्य अपनी पृथक्ता का राग अलापने वाले न हों, वरन् भारतवर्ष की केन्द्रीय सरकार के अधीन रहें।

इस समय देश में संघ शासन स्थापित करने का प्रश्न है, जो सिद्धान्त से बहुत अच्छी बात है; कारण, उस से राजनैतिक एकता होती है। परन्तु ब्रिटिश सरकार जिस प्रकार का संघ बनाना चाहती है, वह सर्वथा अनुपयुक्त और अवांछनीय है। इस विषय का कुछ विशेष विवेचन अगले परिच्छेद में किया जायगा। यहाँ वक्तव्य यह है कि जब तक देशी राज्य सम्राट् से सीधा सम्बन्ध रखते हुए, यहाँ की केन्द्रीय सरकार से अपनी पृथक्ता की घोषणा करते रहेंगे, संघ सुदृढ नहीं हो सकता, उससे भारतीय राष्ट्र की एकता पर आघात होता है।

ब्रिटिश अधिकारियों ने ब्रिटिश भारत और देशी राज्य इन दो भागों को नक्शे में लाल और पीला रंग देकर इनकी पृथक्ता बनाये रखने का प्रयत्न किया है, यद्यपि यह भेद-भाव कृत्रिम है। सन् १९३५ के शासन-विधान में भी इस भेद-भाव का अन्त करने की भावना नहीं है। वरन इसे और बढ़ा दिया गया है। पिछले दिनों भारतमंत्री ने अपने वक्तव्य में कहा था कि "यदि देशी नरेश वैधानिक सुधार करेंगे तो सरकार को किसी भी तरह की आपत्ति न होगी। परन्तु सरकार उन पर किसी तरह का दबाव डाल कर वैधानिक सुधार नहीं करना चाहती। यह नरेशों पर निर्भर करता है कि वे निश्चय करें कि रियासतों की परिवर्तन-स्थिति में उन्हें किस ढङ्गकी शासन-प्रणाली रखनी चाहिए।" इस घोषणा से साफ जाहिर है कि देशी नरेश अपनी प्रजा

को उत्तरदायी शासन दे सकते हैं; परन्तु, जो सर्वोच्च सत्ता देश में सुख-शान्ति और उन्नति की ठेकेदार है, क्या उसकी ऐसी 'तटस्थता' की नीति शोभास्पद है ? जब कि वह देशी राज्यों को अंगरेज दीवान रखने, ब्रिटिश साम्राज्य के लिए जन-धन की अपरिमित सहायता देने, और प्रजा का शोषण और दमन करने तक की मौन या प्रकट सम्मति दे सकती है, तो क्या जनता के हितकर वैधानिक सुधार के लिए देशी राज्यों पर कुछ दबाव डालना उसके लिए निन्द्य होगा ?

ब्रिटिश अधिकारियों का कथन है कि हमने देशी राज्यों से जो संधियाँ कर रखी हैं, उनके कारण हम उनके आन्तरिक शासन-प्रबन्ध में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकते। परन्तु, क्या सन्धियों में देश-कालानुसार कभी कुछ परिवर्तन नहीं होते ? क्या नयी सन्धियाँ नहीं होतीं ? स्वयं ब्रिटिश सरकार का इतिहास क्या रहा है ? जब कभी उसके स्वार्थ का प्रश्न आया, उसने संधियों का नया अर्थ लगाने में ही नहीं, सन्धियों को रद्दी की टोकरी में फैंकने में सकोच नहीं किया। अतः देशी राज्यों के सम्बन्ध में उसका संधियों की बात उठाना सर्वथा निरर्थक और उपहासास्पद है।

अस्तु, हमारे देशी नरेश कब तक अंगरेज अधिकारियों के हाथ की कठपुतली बने रहेंगे ! राजनैतिक जागृति की लहर अब केवल ब्रिटिश भारत तक परिमित नहीं रही। देशी नरेशों का कर्तव्य है कि हवा के रुख को देखें; भारतीय राष्ट्र के निर्माण में, व्यर्थ के रोड़े न बनें। यदि वे स्वयमेव दूरदर्शिता-पूर्वक अपने राज्यों में उत्तरदायी शासन स्थापित कर देंगे तो इतिहास में उनकी कीर्ति अमर होजायगी। यह निश्चित है

* देखिए, हमारी 'देशी राज्य शासन' पुस्तक।

कि उन्हें इस ओर बढ़ना तो पड़ेगा ही, जनता अपना उचित अधिकार लेकर रहेगी। देशी नरेशों को अब सार्वभौम सत्ता के विषय में भी अपना भ्रम-निवारण कर लेना चाहिए। भारतवर्ष के दुर्दिन अब शीघ्र जाने वाले हैं; हमारी सार्वभौम सत्ता हमारे नागरिकों में होगी, न कि समुद्र-पार की किसी विदेशी शक्ति में। इस प्रकार देशी राज्यों के किसी विदेशी शक्ति की छत्र-छाया में रहने, और भारतीय राष्ट्र की एकता में बाधक होने की बात उन के लिए कलंक-स्वरूप है। इस का अन्त होना चाहिए।

आशा है, प्रान्तीयता और मुसलिम राष्ट्र की भावना की भांति, देशी राज्यों की दृष्टि से भी भारतवर्ष की राजनैतिक एकता की बाधा शीघ्र दूर होगी।

बारहवाँ परिच्छेद

स्वाधीनता

"देखेंगे दृश्य नाना सुर गण फिर भी आर्य स्वाधीनता के।
गावेंगे गान आहा! जय-जय कहते वीरता धीरता के॥
देवों के हस्त द्वारा हम पर फिर भी पुष्प की वृष्टि होगी।
भाई! है न देरी, भरत वसुमति सौख्य की सृष्टि होगी॥"

—लोचनप्रसाद पांडेय

मुझे पूर्ण विश्वास है कि भारत की स्वतंत्रता संसार की शान्ति-रक्षा में विघ्न-स्वरूप न होकर सहायक ही होगी। —म० गांधी

पराधीनता की दशा में रहते हुए कोई देश न अपनी प्रकृति-दत्त शक्तियों का समुचित विकास कर सकता है, और न वह संसार में

अपने उत्तरदायित्व-युक्त कार्य को ही पूर्ण कर सकता है। इस लिए यह आवश्यक है कि कोई भी देश अपने स्वाधीनता के इस स्वाभाविक अधिकार से वंचित न रहे।

स्वाधीनता और कांग्रेस—भारतवर्ष में स्वाधीनता का आन्दोलन करने वाली प्रमुख संस्था कांग्रेस या राष्ट्र-सभा है। इसका कुछ उल्लेख दूसरे परिच्छेद में किया गया है। अपने उद्देश्य-पथ में यह क्रमशः आगे बढ़ती रही है। आरम्भ में इसे यह आशा रही कि यहाँ तथा इंगलैंड में अधिकारियों की सेवा में प्रार्थना-पत्र और डेप्यूटेशन भेजने से हमारे सब अभाव दूर हो जायँगे। इसका आवेदन-निवेदन-युग सन् १९०७ तक रहा, कहा जा सकता है। सन् १९०५ में भारतीय लोकमत की सर्वथा उपेक्षा करके सरकार ने बंग-भंग कर डाला। इससे कांग्रेस में, उस समय की दृष्टि से, कुछ उग्रता आयी; 'गर्म' दल की क्रमशः वृद्धि होने लगी। पिछले योरपीय महायुद्ध के बाद, सरकार के व्यवहार से, हमारे अनेक आशावादी नेताओं को भी सरकारी प्रतिज्ञाओं और घोषणाओं में अविश्वास हो गया। सन् १९२० ई० से कांग्रेस में दृढ़ता और स्वावलम्बन की भावना बढ़ी, वह सर्व-साधारण जनता तक पहुँची, और सत्याग्रह तथा असहयोग रूपी नवीन साधनों का उपयोग करने लगी। उसकी नीति अहिंसात्मक रही। सरकार ने उससे बहुत प्रभावित और चिन्तित होकर खूब दमन किया। किन्तु जनता ने अद्भुत निर्भयता और साहस का परिचय दिया। इस प्रकार देश में कांग्रेस ने अभूतपूर्व जागृति की।

सत्याग्रह और असहयोग—सत्याग्रही अपने शत्रु को दुःख देकर उस पर पाशविक विजय पाने का उत्सुक नहीं होता; वह स्वयं कष्ट

उठाता है, अपना आत्म-बल बढ़ाता है और दूसरों पर आत्मिक विजय प्राप्त करता है। यद्यपि धर्म-प्रधान भारतवर्ष में व्यक्तिगत या सामाजिक सत्याग्रह के अनेक ज्वलंत उदाहरण मिलते हैं, राजनैतिक या राष्ट्रीय सत्याग्रह का विशेष विकास इसी काल में हुआ है; इसके प्रवर्तक महात्मा गांधी हैं। इसी प्रकार जनता के दुःखों पर ध्यान न देनेवाले राजा या सरकार से असहयोग करने की बात भी कुछ नयी नहीं है। परन्तु इसकी भी नीति और कार्यक्रम को निर्धारित करने का यश महात्मा गांधी को ही है। समय उपयुक्त था। सरकार पर से जनता का विश्वास उठ गया था। म० गांधी का बीज उर्वरा भूमि पर पड़ा, और उसने तत्काल जड़ पकड़ली। हजारों आदमियों ने सरकारी नौकरी छोड़दी; सर्वसाधारण की दृष्टि में इस नौकरी का मान घट गया। कौंसिलों में पहले के समान आकर्षण न रहा। यदि राष्ट्रवादी उनमें गये, तो केवल उस अनिष्ट को कम करने के लिए, जो अन्य आदमी सरकारी कठपुतली बन कर वहाँ कर सकते हैं, अथवा सरकार की एवं संसार को वर्तमान शासनपद्धति की अनैतिकता, और भारतीय जनता की वास्तविक माँग दर्शाने के लिए। असहयोग का अन्तिम अंग सरकार को उसके कार्य-संचालन के लिए कर न देना है। जब यह कार्य सफलता-पूर्वक कर दिया जाता है तो सरकार की शान का ऊँचा महल अनायास धराशायी हो जाता है। पिछले आन्दोलन में यह विषय भी उठा था, पर उसका कुछ व्यापक प्रयोग नहीं किया गया। क्या भविष्य में इसका अवसर आयेगा ?

सत्याग्रह और असहयोग का प्रयोग कुछ सहज बात नहीं है। सर्व साधारण जनता से, प्रतिकूल अवस्था में भी, अपनी दृढ़ता और संयम-शीलता का परिचय देते रहने की आशा नहीं की सकती। इसके लिए उससे अधिक शिक्षण और अनुशासन की आवश्यकता है, जितनी सैनिक योग्यता के लिए होती है। अनेकश, ऐसा होता है कि बहुत प्रयत्न करने पर भी एक-दो व्यक्तियों से भूल हो जाती है, और वातावरण अशुद्ध हो जाने की आशंका होती है। इसीलिए महात्मा गांधी को समय-समय

पर इन अस्त्रों के प्रयोग को स्थगित करना या उस पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा है। अस्तु, इनकी अमोघ शक्ति से कोई इनकार नहीं कर सकता। आवश्यकता होने पर समुचित तैयारी करके इनका प्रयोग किया जा सकता है; और इनके द्वारा अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की जासकती है।

औपनिवेशिक स्वराज्य और स्वाधीनता—पहले भारतवर्ष का राजनैतिक ध्येय औपनिवेशिक स्वराज्य अर्थात् ऐसा शासनाधिकार प्राप्त करना था, जैसा कि ब्रिटिश साम्राज्य के (स्वतन्त्र) उपनिवेशों को है। उस समय ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को भारतवर्ष की यह माँग भी बहुत क्रान्तिकारी प्रतीत होती थी। ब्रिटिश शासकों के व्यवहार से, इस देश का प्रगतिशील दल उपयुक्त राजनैतिक ध्येय से अधिकाधिक असंतुष्ट होता गया। लोकमान्य तिलक ने निर्भयता-पूर्वक घोषणा की कि 'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है, और हम उसे लेंगे।' तब से कांग्रेस में स्वराज्य की बात उठने लगी। सन् १९२७ ई० की मदरास-कांग्रेस के प्रस्तावानुसार सविस्तर शासन-योजना बनायी गयी। अगले वर्ष कलकत्ता-कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार को एक साल का अवसर दिया कि वह इस बीच में भारतवर्ष में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना करे। ३१ दिसम्बर सन् १९२९ ई० तक इस योजना के ब्रिटिश सरकार द्वारा स्वीकृत न किये जाने पर, कांग्रेस के उद्देश्य से भारतवर्ष के, ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रहने की बात निकाल दी गयी। निश्चय किया गया कि भारतवर्ष की राष्ट्रीय माँग पूर्ण स्वाधीनता है। हाँ, संसार के अन्यान्य भागों में, ब्रिटिश साम्राज्य के देशों से भी, भारतवर्ष का मित्रता और समानता का व्यवहार रहे, इसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती; परन्तु यह तभी हो सकेगा जब इंगलैंड आदि अपने स्वार्थ और अहंकार-मद को छोड़ कर साम्य और

बन्धुत्व के भाव का परिचय दें।

स्वाधीनता-दिवस और प्रतिज्ञा—सन् १९२९ ई० की ३१ दिसम्बर को, रात के ठीक बारह बजे लाहौर में. रावी तट पर कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास किया था। तब से प्रति वर्ष २६ जनवरी को स्वाधीनता-दिवस मनाया जाता है। उस शुभ दिन हम स्वराज्य की प्रतिज्ञा दोहराते हैं, उसमें अपना विश्वास प्रकट करते हैं, और उस ध्येय की ओर अग्रसर होने के विविध उपायों का विचार करते हैं, जिससे हमारा स्वाधीनता-संग्राम तनिक भी शिथिल न होने पाये। हमारी स्वाधीनता की प्रतिज्ञा निम्नलिखित है :—

हमारा विश्वास है, कि दूसरी क़ौमों की तरह हम हिन्दुस्तानियों को भी क़ौमी आज़ादी, अपनी मेहनत का फल और ज़िन्दगी की ज़रूरतों को हासिल करने का हक़ है, ताकि हमें अपनी तरक्क़ी का पूरा मौक़ा मिले। हमारे इस हक़ को हमसे छीनने का किसी को अधिकार नहीं। हमारा यह भी विश्वास है, कि अगर कोई सरकार किसी कौम के इस हक को छीनती है, तो उस कौम का भी अधिकार है कि वह उस सरकार को बदल दे, या उसका खात्मा कर दे। ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान को सिर्फ़ कौमी आज़ादी से ही वञ्चित नहीं रखा, बल्कि अपनी हुकूमत की नींव हिन्दुस्तान की जनता के शोषण पर कायम की है। उसने हिन्दुस्तान की माली, राजनीतिक, तहज़ीबी और आत्मिक बरबादी की है। इसलिए हमारा यह विश्वास है, कि हिन्दुस्तान को ब्रिटेन से नाता तोड़कर, पूर्ण स्वराज्य या मुकम्मिल आजादी हासिल करनी चाहिए।

हम मानते हैं, कि कौमी आज़ादी पाने का हमारे लिए सब से अच्छा तरीका अहिंसात्मक ही हो सकता है। हमने शान्ति-पूर्ण और न्यायोचित तरीकों से ही ताक़त और आत्म-निर्भरता प्राप्त की है, और पूर्ण स्वराज्य की ओर बहुत दूर तक आगे बढ़े हैं। हमारा विश्वास है कि

हमारा देश इन तरीकों पर चल कर ही आज़ादी हासिल करेगा।

आज हम पूर्ण स्वराज्य लेने की फिर प्रतिज्ञा करते हैं और निश्चय करते हैं कि हमारी यह अहिंसात्मक लड़ाई तब तक जारी रहेगी, जब तक हम अपने देश हिन्दुस्तान को आज़ाद नहीं कर लेते।

नवीन विधान और स्वतंत्रता—सन् १९३५ ई० के विधान के अनुसार भारतवर्ष में प्रान्तीय स्वराज्य की स्थापना हुई और केन्द्रीय सरकार का स्वरूप 'संघ शासन' रखा गया, जिससे ब्रिटिश भारत और देशी राज्य दोनों सम्मिलित हों। सिद्धान्तसे संघ-शासन भारतवर्षके लिए बहुत उत्तम है, परन्तु उपर्युक्त विधान में उसका जो स्वरूप निर्धारित किया गया था, वह नितान्त असंतोषप्रद था, वह अमल में नहीं आ सका। अन्ततः वर्त्तमान योरपीय महायुद्ध आरम्भ हो जाने पर वह स्थगित ही हो गया।

एंग्लो-इंडियन समाचारपत्र 'स्टेट्समेन' के भूतपूर्व सम्पादक मिस्टर आर्थर मूर ने इसका अच्छा रहस्योद्घाटन किया है। आपका कथन है कि ब्रिटिश सरकार पहले से ही महायुद्ध आरम्भ होने की आशंका कर रही थी, और यह भी समझ रही थी कि संघ-शासन जारी होने पर भारतीयों को वास्तविक शासन सत्ता अर्पित करनी ही होगी। अन्ततः महायुद्ध आरम्भ हो ही गया। फिर तो ब्रिटिश सरकार ने फैसला ही कर लिया कि भारतवासी चाहे जितना यत्न करें, और भारत में चाहे जैसी वैधानिक सरकार बने, महायुद्ध-काल में उन्हें भारत का शासनाधिकार न दिया जायगा।

अब प्रान्तीय स्वराज्य की बात लें। यह सन् १९३७ में अमल में आने लगा था। यह 'स्वराज्य' चीफ़-कमिश्नरों के प्रान्तों को नहीं था; यह केवल गवर्नरों के ही प्रान्तों को था, जो संख्या में ११ हैं। इनमें से

आड़ में कांग्रेस-शासन जारी हुआ। विधान के अनुसार गवर्नरों को कई प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त थे, और मंत्रिमंडलों तथा व्यवस्थापक मंडलों के अधिकार बहुत परिमित थे। छः प्रान्तों में प्रतिक्रियावादी दूसरी सभाओं की स्थापना की गयी थी। मताधिकार अवश्य बढ़ाया गया था, परन्तु उसे साम्प्रदायिकता में रंग कर सब गुड़ गोबर कर दिया था। यह 'स्वराज्य' ढाई वर्ष अमल में आया था कि सन् १६३६ में, योरप में महायुद्ध छिड़ गया। इंगलैंड ने उसमें भाग लिया और भारतवर्ष की प्रान्तीय सरकारों का मत लिये बिना ही इस देश को युद्ध-संलग्न घोषित कर दिया तथा यहाँ युद्ध सम्बन्धी तैयारी करने लगा। इससे प्रान्तीय सरकारों को अपने अधिकारों का, तथा 'प्रान्तीय स्वराज्य' की निस्सारता का, अनुभव हुआ। कांग्रेसी सरकारों ने ब्रिटिश सरकार से युद्ध का उद्देश्य पूछा और इसका उत्तर सन्तोषजनक न पाकर त्याग-पत्र दे दिया। इसके फल-स्वरूप जिन प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल थे, उनमें शासन-विधान स्थगित होकर गवर्नरों का एकछत्र अधिकार स्थापित हो गया। इस बात को धीरे-धीरे तीन वर्ष बीत गये, परिस्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी कौंसिल के सदस्यों की संख्या बढ़ायी गयी, परन्तु वह कौंसिल न जनता की प्रतिनिधि है, और न उसके प्रति उत्तरदायी ही।

'क्रिप्स योजना' का उल्लेख पिछले परिच्छेद में किया जा चुका है। इसके स्पष्टीकरण से यह भलीभाँति विदित हो गया कि ब्रिटिश सरकार भारतवर्ष के शासन-प्रबन्ध के सम्बन्ध में यहाँ की जनता को वास्तविक सत्ता देना नहीं चाहती। इसे कांग्रेस ने अस्वीकार किया।*

* हिन्दू महासभा, मुसलिम लीग या और भी कोई दल इस योजना से सन्तुष्ट न हुआ।

कांग्रेस ने निश्चय किया कि अब अंगरेज यहाँ शासक के रूप में न रहें, और भारतवर्ष को अपनी रक्षा स्वयं करने दें; हाँ, चीन आदि की सहायता के लिए युद्धकाल में ब्रिटिश या अमरीकन सेनाएँ यहाँ रह सकती हैं। सरकार को ऐसी बात कैसे अच्छी लगती! उसने कांग्रेस के प्रमुख कार्यकर्त्ताओं को क़ैद या नजरबन्द कर दिया। इससे जनता क्षुब्ध हो गयी, और स्थान-स्थान पर ऐसे कार्य किये जाने लगे, जिससे यातायात तथा अन्य सरकारी कार्यों में बाधा उपस्थित हो। ये बातें जनता के व्यापक असंतोष की सूचक हैं, पर सरकार ने केवल दमन का सहारा लिया और जनता का असंतोष दूर करने के लिए वास्तविक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना न की। उसका कथन है कि भारतवर्ष में देशी राज्यों, मुसलमान आदि अल्पसंख्यकों, और हरिजनों आदि की समस्याएँ हैं। जानने वाले भारतीय भलीभाँति जानते हैं कि (१) ये समस्याएँ ब्रिटिश साम्राज्यवाद की देन हैं, उससे मुक्ति पाने पर स्वयं ही बहुत-कुछ हल हो जायँगी, और (२) ये भारतवर्ष की घरू समस्याएँ हैं, इनके कारण भारतवर्ष को वास्तविक सत्ता देने में ढील ढाल करना अनुचित और खतरनाक है।

म० गांधी और जवाहरलाल जी नेहरू ने ठीक कहा है कि भारतीय समस्या तभी हल हो सकती है, जब ब्रिटेन वाले यहाँ से चले जायँगे; और भारतीयों को अपनी समस्या खुद सुलझाने का मौका देंगे। अगर कोई मत-भेद होगा तो अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत द्वारा उसका फ़ैसला किया जायगा।

वर्तमान स्थिति भारतवासियों के लिए तो असह्य है ही, यह उस इंगलैंड के लिए भी बहुत बदनामी की है, जो स्वतंत्रता और प्रजातन्त्र-स्थापना के लिए लड़ने का दावा करता है। यह स्थिति बहुत समय

तक नहीं बनी रह सकती। भारतवर्ष अपने जन्मसिद्ध अधिकार का परित्याग कर अपमानजनक जीवन व्यतीत करना नहीं चाहता। वह स्वाधीनता की ओर बढ़ रहा है, आन्दोलन चल रहा है, और हमें उसके लिए बहुत त्याग और तप करना होगा।

राष्ट्र-रक्षा—इस प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि हम अपनी स्वाधीनता बनाये रखने के लिए, राष्ट्र-रक्षा किस प्रकार करेंगे। इस समय देश-रक्षा का प्रबन्ध ब्रिटिश सरकार करती है; वह कितना खर्चीला है, उससे हमें कितनी आर्थिक तथा अन्य हानि होती है, यह हम 'भारतीय राजस्व' पुस्तक में बता चुके है। ब्रिटिश सरकार की अधीनता में भारतीय सेना का मुख्य उद्देश्य यह है कि वह ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा में सहायक हो, और भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्य के बंधन से मुक्त न हो पावे। यह बात अब असह्य है। वर्तमान महायुद्ध ने भली भांति दिखा दिया है कि ब्रिटिश सेनाओं के भरोसे किसी देश का आत्मरक्षा से निश्चिन्त रहना खतरे से खाली नहीं। अस्तु, स्वाधीनता प्राप्त करने पर हम अपने राष्ट्र की रक्षा स्वयं करेंगे। हम किसी देश की स्वतन्त्रता हरण करना नहीं चाहते, इसलिए संसार क अनेक राष्ट्रों से हमारा मित्रता का व्यवहार होगा, और हमें सैनिक व्यवस्था की विशेष चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी। तथापि भारत माता के सुपुत्र कहलाने वाले प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्त्तव्य है कि आवश्यकता होने पर वह देश-रक्षा के लिए अपने प्राण न्योछावर करने को तैयार रहे। इसके वास्ते ज़रूरी है कि देश-रक्षा सम्बन्धी व्यावहारिक ज्ञान के लिए न केवल सैनिक शिक्षा की यथेष्ट व्यवस्था हो, वरन् अहिंसात्मक-विरोध की शिक्षा की भी।

खेद है कि हमारे अन्यान्य राष्ट्रीय कार्यों की तरह, राष्ट्र-रक्षा में भी साम्प्रदायिकता एक बड़ी बाधा है। कुछ मुसलमान कहते हैं कि यदि बाहर की कोई मुस्लिम शक्ति भारतवर्ष पर हमला करेगी तो वे इस देश की रक्षा करने के बजाय उस मुस्लिम शक्ति का साथ देंगे। वे भूल जाते हैं कि अफगानिस्तान, टर्की आदि स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य भारतवर्ष के मुसलमानों की विदेश-भक्ति को दक़ियानूसी, मूर्खतापूर्ण और हास्यास्पद समझते हैं। हर्ष का विषय है कि भारतवर्ष में भी ऐसे मुसलमानों का अभाव नहीं है, जो अपने बन्धुओं का इस विषय में ठीक पथ-प्रदर्शन करते रहते हैं।

श्री० मुहम्मद जैनुल आबदीन एम० एस-सी०, एल-एल० बी० ने लिखा है—"देहली के एक नामी फ़क़ीर के भतीजे ने, जो अलीगढ़ युनीवर्सिटी का ग्रेजुएट भी है, एक बार मुझ से कहा कि मैं तो इसलाम की लड़ाई लड़ना चाहता हूँ, और अरब में जाकर। हम लोग यह नहीं जानते कि हमारे बारे में बाहरी मुसलमानों का क्या खयाल है। हम लोग शायद १९१८ का ज़माना भूल गये, जब हमने पागलपन के झोंकों में आकर हिजरत की थी। अफगान सरकार ने हमें डंडे मार-मार कर अपनी सरहद के बाहर खदेड़ दिया था। हाल ही में ईराक ने कानून पास किया है कि हिन्दुस्तानियों से शहरियत के अख्तियारात छीन लिये जायँ। इन हिन्दुस्तानियों में ९२ फीसदी मुसलमान हैं, और इतने पर भी हम अरब में जाकर इस्लाम की लड़ाई लड़ने का ख्वाब देखते हैं। जरूरत इस बात की है कि हम सब लोग मिलकर हिन्दुस्तान की बहबूदी पर गौर करें।

भारतवर्ष की स्वाधीनता से संसार का हित—एक बातका विचार और। भारतवर्ष के साम्राज्यवादी प्रभु इसकी शक्तियों को समय-समय पर दूसरे देशों का दमन कराने में खर्च करते रहते हैं। भारतवर्ष

की सेना और द्रव्य उन लोगों से लड़ने के लिए, तथा उन्हें दासता के बन्धन में जकड़ने के लिए भेजा जाता है, जिन से भारतवर्ष किसी प्रकार झगड़ा करना नहीं चाहता। भारतवर्ष इस विवशता की स्थिति से ऊब गया है। वह चाहता है कि अब भविष्य में उस की शक्ति का उपयोग दूसरों को लूटने या दमन करने में न किया जाय। इसके लिए यह आवश्यक है कि वह स्वयं अपना मालिक हो, दूसरे के हाथ की कठपुतली न रहे।

परन्तु क्या स्वाधीनता-बल को प्राप्त करके भारतवर्ष अपने ऊपर इतना संयम रख सकेगा कि दूसरों को न लूटे? क्या उसमें रक्त-पिपासा का प्रादुर्भाव न हो जायगा? भारतवर्ष की अहिन्सा नीति इस बात की जबरदस्त गारंटी है कि जिस प्रकार वह किसी का दास होना पसन्द नहीं करता, उसी प्रकार वह किसी को दास बनाना भी पसन्द न करेगा। यही नहीं, उस का 'वसुधैव कुटुम्बकम्'-भाव अन्य राष्ट्रों को भी किसी निर्बल जाति या देश पर आक्रमण करने से रोकेगा। वह अपनी शक्ति दूसरों के, स्वाधीनता आदि न्यायोचित अधिकारों की रक्षा करने में लगाये। जब तक भारतवर्ष स्वयं एक निर्बल तथा गुलाम देश है, उस के मानव हित के उपदेश का उपहास होता रहेगा, तथा उस की विश्व-बन्धुत्व की साधना पूरी नहीं हो सकती। इसके लिए उसे स्वाधीनता प्राप्त करनी आवश्यक है। अस्तु, भारतवर्ष की स्वाधीनता से न केवल इस देश का, वरन् संसार के सभी देशों का कल्याण होगा। शुभम्।

परिशिष्ट

हिन्दुस्तान किसका ?

मेरी टूटी मडैया में राज रहे, कोई गैर न दस्तनदाज रहे।
बस हिन्द मेरा आजाद रहे, माता के सर पर ताज रहे ॥

'हिन्दुस्तान किसका ?' यह प्रश्न कुछ अटपटा है; और इस देश की राष्ट्रीयता का अपमान करनेवाला अथवा उसकी निर्बलता की सूचना देनेवाला है। अन्यथा जो व्यक्ति हमसे ऐसा प्रश्न करे, तो उत्तर देने के लिए उससे यह प्रश्न किया जा सकता है कि

इंगलैंड किसका ?

या जर्मनी किस का, रूस किस का, चीन किस का, और अफगानिस्तान किस का, इत्यादि। ऐसे प्रश्न अनावश्यक समझे जाते हैं, और इन्हें पूछनेवाले को 'अनसमझ' कहा जाता है। प्रत्येक स्वाधीन देश वहाँ-वहाँ की संतान का, वहाँ के निवासियों का, वहाँ के नागरिकों का, माना जाता है। इसमें किसी को कोई शंका नहीं होती, कोई आपत्ति नहीं होती। पर जिन अभागे देशों की स्वाधीनता नहीं होती, वे लावारिस माल की तरह समझे जाते हैं। जिस राष्ट्र या जाति का उन पर राज्य होता है, वह तो उन्हें अपना माल, जागीर या जायदाद समझता ही है, दूसरे राज्यों की भी ललचायी हुई आँखें उनकी ओर लगी रहती हैं। वे सोचते रहते हैं कि कब मौका लगे और कब हम इस पर अपना कब्जा कर सकें। इस प्रकार पराधीन देश स्वयं तो संकट में होते ही हैं, वे स्वाधीन राष्ट्रों को भी आपस में लड़ने और खून-खराबी करने की प्रेरणा करते रहते हैं।

हिन्दुस्तान के सम्बन्ध में

विचार करने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पराधीन देशों पर विदेशी अधिकारी तो अपना अधिकार जताते ही हैं, स्वयं उस देश के निवासियों में भी आपस में मत-भेद और कटुता होती है। अनेक दशाओं में यह मत-भेद और कटुता शासकों द्वारा पैदा की हुई होती है, या कम से कम उनके द्वारा प्रोत्साहित की जाती है। आपस की फूट देश को पराधीन बनाती है, फिर शासक इस फूट की बेल को सींचते रहते हैं, इससे पराधीनता की अवधि बढ़ती जाती है। इसलिए स्वाधीनता के इच्छुक देशों की जनता को इस ओर बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता है। उन्हें ऐसी आवाज नहीं उठानी चाहिए कि यह देश अमुक जाति या धर्म वालों का है, और अमुक जाति या धर्म वालों का नहीं है। उदाहरणवत् यदि भारतवर्ष में कुछ भूले-भटके

हिन्दुओं का कथन

यह हो कि यह देश केवल हमारा ही है, मुसलमान, ईसाई आदि तो गैर लोग हैं, तो यह कहाँ तक उचित है ? यह ठीक है कि हिन्दू यहाँ चिरकाल से रहते आये हैं, और इस देश को अपनी मातृभूमि और धर्म-भूमि मानते हैं, परन्तु कुछ ऐतिहासिकों का यह भी तो मत है कि उनसे या आर्यों से पहले यहाँ द्राविड़ आदि अन्य जातियों के आदमी रहते थे, जिन्हें हराकर आर्यों ने यहाँ अधिकार जमाया। यह मत अभी बहुत विवाद-ग्रस्त है, और इसकी सत्यता भली भाँति प्रमाणित नहीं हुई है। तथा यह तो विचारणीय है ही कि आर्य या हिन्दू अब कोई एक ही पूर्णतया विशुद्ध जाति नहीं है। इसमें असख्य हूण, सीथियन, यूनानी आदि लोगों का मिश्रण है, जो समय-समय पर विविध कारणों

से, विशेषतया आक्रमणकारी के रूप में, यहाँ आये और पीछे इसी देश के निवासी बनकर इसी के प्रति अपनी भक्ति-भावना रखने लगे; यहाँ तक कि उन्होंने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं रखा। इस तरह यह देश उन लोगों का भी उतना ही है, जितना कि अपने आपको शुद्ध माननेवाली आर्य जाति का। अस्तु, यह सन्तोष का विषय है कि प्रायः हिन्दू जहाँ भारतवर्ष को अपनी जन्मभूमि और कर्मभूमि कहकर इसकी आराधना करते हैं, वहाँ वे अन्य व्यक्तियों को भी इसकी सेवा-पूजा करने आदि का समान अधिकार देते हैं। अब हम

मुसलमानों का विचार

करें। अनेक मुसलमान कवियों, लेखकों, राजनीतिज्ञों एवं शासकों ने जिस प्रकार इस भूमि की सेवा करने में अपना तन, मन, धन न्योछावर किया है, वह भारतीय इतिहास में अमिट अक्षरों में अंकित है। आज दिन भी कितने-ही माई के लाल अपनी-अपनी शक्ति तथा बुद्धि के अनुसार इस माता की सेवा-सुश्रुषा में लगे हुए हैं। परन्तु कुछ आदमी अपने व्यक्तिगत स्वार्थवश या शासकों का इशारा पाकर एक अलग बेसुरा राग अलाप रहे हैं, और दुर्भाग्य से वर्तमान परिस्थिति में उनका राग बहुत जोर-शोर से जनता को सुनाया जा रहा है। इनका कथन है कि अंगरेजों के आने से पूर्व हमारे पूर्वज यहाँ के शासक थे, हमसे ही उन्होंने इस देश को लिया है; एक शासक जाति के होने के कारण हमारा विशेष महत्व है। अतः अंगरेजों को यहाँ की शासनसत्ता में हमें विशेष स्थान देना चाहिये; जहाँ हमारा अल्पमत है, वहाँ अल्पमत की रक्षा के लिए; और जहाँ हमारा बहुमत है, वहाँ बहुमत के आधार पर हमें विशेष अधिकार मिलने चाहिये। पिछले दिनों तो उनकी यह

पुकार होने लगी है कि हम एक महत्वपूर्ण जाति ही नहीं, हम एक स्वतंत्र राष्ट्र हैं, और इसलिए मुसलिम-बहुमत-प्रान्तों को 'पाकिस्तान' के रूप में स्वतंत्र शासन करने का अधिकार होना चाहिए। ये मेहरबान अपने साम्प्रदायिक आवेश में जो तरह-तरह के दावे उपस्थित करते हैं, उन पर कभी शान्ति और गम्भीरता से विचार करने का कष्ट नहीं उठाते। वे अपनी कल्पनाओं को तनिक ब्यौरेवार सोचें, वे कहाँ तक व्यावहारिक हैं! यदि वे इस बात को सोचना नहीं चाहते कि उनकी योजना से भारतीय राष्ट्र कितना निर्बल हो जायगा तो कम-से-कम यह तो सोचें कि उनका पाकिस्तान अपना सब खर्चा कैसे चलावेगा और अपनी रक्षा किस प्रकार करेगा, क्या वह सदैव दूसरों की ही सैनिक शक्ति का आसरा तकता रहेगा। आज दिन हमारी आँखों के सामने कई राष्ट्रों की स्वतन्त्रता बात की बात में अपहरण हो गयी, फिर पाकिस्तान के खंड-राष्ट्र की क्या स्थिति होगी। अच्छा, अब

भारतवर्ष को अन्य जातियों की बात

लें। यद्यपि कुछ अदूरदर्शी और स्वार्थी व्यक्ति सब में मिल सकते हैं, जो थोड़े से लोभ या रिश्वत से चलायमान हो जाते हैं, और कर्त्तव्य-पथ को छोड़कर बहकी-बहकी बातें करने लगते हैं, यह हर्ष का विषय है कि पारसियों, ईसाइयों या ऐंग्लो-इंडियनों ने समष्टि-रूप से इस देश की एकता को खंडित करने, या अपने लिए विशेष अधिकारों का दावा करने का दुस्साहस नहीं किया। सिक्खों ने साम्प्रदायिक मुसलमानों की देखा-देखी भले ही कुछ साम्प्रदायिक भावनायें प्रकट की हों, अन्यथा वे अपनी विचार-धारा राष्ट्रीय लोकमत के साथ रखते रहे हैं। इस प्रकार, यद्यपि भारतवर्ष के वर्तमान कथित शासन-विधान ने यहाँ की

विविध जातियों को एक-दूसरे से अलग रहकर अपना-अपना दृष्टिकोण संकीर्ण रखने की प्रेरणा करने में कुछ कसर नहीं रखी, अधिकांश व्यक्ति यहाँ राष्ट्र-हित की दृष्टि से ही विचार करना चाहते हैं। ये अपने आपस के मतभेदों का स्वयं निर्णय करने के पक्ष में हैं। ये अपने घरू मामले में दूसरे को मध्यस्थ बनाना, या बन्दर-बाँट का न्याय कराना, नहीं चाहते। परन्तु

अगरेजों का यह दावा

बना ही है कि हमारे बिना भारतवर्ष अपनी रक्षा नहीं कर सकता। हम ही यहाँ शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करते हैं। इसमें हमारा लेशमात्र भी स्वार्थ नहीं है। भारतवर्ष का शासन करना हमारे लिए एक व्यर्थ का भार है, जिसे हम केवल परोपकार या कर्त्तव्य-पालन के लिए सहन कर रहे हैं। इनकी नीति यह है कि 'मान न मान, मैं तेरा मेहमान।' ये इस बात को गवारा नहीं कर सकते कि भारतवर्ष जैसा लाभकारी भू-खण्ड इनके आधिपत्य से निकल जाय। अपने इस भाव को छिपाने के लिए येतरह-तरह की बातें बनाते हैं, इन बातों में अब कोई तत्व नहीं रह गया। फिर भी बड़े-बड़े अधिकारी बार-बार यह दोहराते रहते हैं कि भारतवर्ष में (१) हिन्दू मुसलिम' समस्या है। (२) भारतवर्ष के एक तिहाई भाग में देशी राज्य हैं जिनसे हमारी संधियाँ हैं। (३) भारतवर्ष में करोड़ों हरिजन हैं, जो सवर्णों के आधिपत्य के विरुद्ध हैं। (४) भारतवर्ष विदेशी आक्रमणकारियों से अपनी रक्षा करने में असमर्थ है, इत्यादि इत्यादि। इन बातों का कोई अन्त नहीं है। परन्तु विवेकशील भारतवासी ही नहीं, अन्य देशवासी भी यह घोषित कर चुके हैं कि ये सब उलझनें स्वय अगरेजों की ही पैदा

की हुई हैं और जब तक उनका प्रभुत्व रहेगा, ये उलझनें बनी रहेंगी तथा बढ़ती भी रहेंगी। यही सोचकर महात्मा गांधी ने यह मत व्यक्त किया है कि अंगरेजों को यहाँ की चिन्ता छोड़कर अपने देश की चिन्ता में लगना चाहिए। इसी में भारतवर्ष का, एवं स्वयं उनका भी कल्याण है। 'व्यर्थ के भार' से मुक्त होकर उन्हें कुछ आराम मिलेगा और भारतवर्ष का उनके कारण जो नैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक शोषण हुआ है, वह आगे नहीं होगा। संसार इस बात की प्रतीक्षा कर रहा है कि शीघ्र ही विश्व का यह छठा भाग स्वतन्त्र होकर अपना समुचित विकास करें, और दूसरों के विकास में सहायक हो। इसके लिए यह अनिवार्य है यह सिद्धान्त सर्वमान्य हो और व्यवहार में आये कि

हिन्दुस्तान हिन्दुस्तानियों का

है। स्मरण रहे कि इसमें न कोई द्वेषभाव है और न संकीर्णता ही। यह बात अच्छी तरह ध्यान में रखना आवश्यक है कि हिन्दुस्तानी से हमारा आशय क्या है। इस समूह में हम उन सब मनुष्यों की गणना करते हैं, जो यहाँ स्थायी रूप से रहना स्वीकार करें, इस देश को अपनी धर्मभूमि तथा कर्मभूमि समझें—चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय, जाति या रंग के क्यों न हों। हम किसी को हिन्दुस्तानी मानने न मानने का निर्णय करने में हिन्दू, मुसलिम, सिक्ख, ईसाई या ऐंग्लो-इण्डियन आदि के भेद का विचार नहीं करते। कोई गोरे रंग का हो, या काले रंग का, अथवा पीले रंग का, हम सबको समान समझते हैं, बशर्ते कि वह शुद्ध हृदय का हो, वह कपटी, छली, फरेबी न हो; यहाँ का अन्न, जल और नमक खाता हुआ भी इस भूमि के प्रति कृतघ्न न हो; उसकी योग्यता और सेवा का फल प्रधानतया इस देश को मिले।

एक बात और

पिछले दिनों भारतीय समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों में बहुत संघर्ष रहा है। प्रायः हरिजनों से सवर्णों ने भ्रातृभाव नहीं रखा है, और वे कितने ही स्थानों में बहुत सताये तथा अपमानित किये गये हैं। मज़दूरों पर बहुधा पूंजीपतियों का, और किसानों पर ज़मींदारों का अत्याचार हुआ है। भारतवर्ष के देशी राज्यों में जनता राजाओं तथा उनके समर्थकों और स्वार्थ-साधकों द्वारा कष्ट पा रही है, अन्य स्थानों में नौकरशाही अपनी धौंस जमा रही है। अतः यह शंका होती है कि भारतवर्ष ये परस्पर में वर्ग-वैर रखनेवाले साथ-साथ कैसे रहेंगे, अथवा क्या भारतवर्ष में केवल सवर्णों, ज़मींदार, पूंजीपतियों और राजाओं तथा सरकारी पदाधिकारियों का ही बोलबाला रहेगा? इसका उत्तर स्पष्ट है। हम शोषण, अत्याचार या दमन नहीं चाहते; विदेशियों द्वारा नहीं चाहते तो अपने ही देशबन्धुओं द्वारा भी नहीं चाहते। हथकड़ी या बेड़ी बुरी हैं, वे लोहे की हों, या सोने की। हिन्दुस्तान उन्हीं लोगों का होगा, जो स्वयं स्वतंत्र हों और दूसरों की स्वतन्त्रता के हामी हों, जो खुद ऊँचे वर्ण या जाति के होकर दूसरों को नीच मानने वाले न हों; स्वयं राजा, पूंजीपति या जमींदार होकर दूसरों को दीन और दरिद्र बनानेवाले न हों। हम किसी वर्ग का विलुप्त होना उसी दशा में चाहते हैं, जब वह दूसरों को विनष्ट करने में लगा हो। 'हिन्दुस्तान हिन्दुस्तानियों का' कहने का अर्थ 'जीओ, और जीने दो' है। स्वतंत्रता, समानता और सहयोग इसके मूल तत्त्व हैं।